

आदर्श-चरित-माला—द्वितीय पुष्प

मतवाली-मीरा

लेखक

श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी



प्रकाशक

श्रीअनन्तराम श्रीवास्तव

अध्यक्ष—“मानस—पीयूष”—कार्यालय

दारागंज, प्रयाग

प्रकाशक द्वारा सर्वाधिकार सुरक्षित)

मुद्रकः—

आई० बी० सक्सेना

माधो प्रिंटिंग वर्क्स

इलाहाबाद ।

समर्पण

गिरिधरलालजी !

भीतर अन्तःपुर में तो मुझे आने का अधिकार ही नहीं। मैं दास जो ठहरा, मीरा से तो मेरा बहिन का नाता है। तुमसे क्या है पता नहीं ?

मैंने एक गीली मिट्टी की माला बनाई है। उसमें मोराको “अँसुअन जल सींचि सींचि प्रेम वेलि” से कुछ फूल तोड़ कर खोंस दिये हैं। तुम बाहर आकर इसे पहिन लोगे क्या ? मेरी कारीगरी के नाते नहीं, अपनी प्रियतमा के नाते। प्रिय की तो सभी चीजें प्यारी होती हैं। “मीरा” कभी एकान्त में देखेंगी तो, संभव है, प्रसन्न होकर तुम से मेरी कुछ चर्चा कर दें। बस, मैं इतने से ही प्रसन्न हो जाऊँगा। क्यों ? आओगे तन्निक बाहर ? करोगे इतना कष्ट ? स्वीकारोगे इस बावले के अजीब उपहार को ?

पुराण-सत्र मंडप
भूसी (प्रयागराज)
भाद्र शुक्ला ६-सं० २००२

तुम्हारा दासानुदास भी
कहलाने का अनारि
प्रभुदत्त

॥ श्रीहरिः ॥

प्राक्कथन

कुछ अपने सम्बन्धमें कुछ मीरा के सम्बन्धमें

वयं कृष्ण महायोगिन् ! भ्रमामः ! कर्म बलमसु ।

*नन्द वार्तया तरिष्यामः : तावकै दुस्तरं तमः ॥

सब सन्तन निर्णय कियो, मथि पुराण इतिहास ।

गाइवे को देही सुघर, कै हरि कै हरिदास ॥

आज से लगभग १०।१२ वर्ष पूर्व ये निबन्ध लिखे गये थे । पीछे इन्हें पुस्तक का रूप दिया गया, किन्तु वह अधूरी ही रह गई । अपने अल्हड़ स्वभाव से वह अब तक अधूरी ही रही आई । नाना व्यवसायों में चिन्ता की वृत्ति लगी रहने से इसे पूर्ण करने का विचार ही नहीं आया । इधर हमारी 'महा-त्मा कर्ण' नामक पुस्तक निकली और वह कुछ ही महीनों में

*हे महायोगी कृष्ण, हम कार्य-पथ में भटक रहे हैं । इस दुस्तर अंधकार को हम तुम्हारी गुण-गाथा का गान करके ही पार कर सकेंगे ।

विक गई। तब चिरंजीव अनंतराम का आग्रह हुआ कि 'मीरा' वाली पुस्तक भी पूर्ण करके छाप दी जाय। बीच-बीच में कई बार ऐसा पसङ्ग आया भी, किन्तु कभी नियम, कभी अनुष्ठान, कभी उपवास और कभी महोत्सव इनमें लगे रहने से इसकी बारी ही न आई। जब पुस्तक अधूरी ही छपने लग गई और निश्चय हुआ कि अमुक तिथि तक अवश्य निकलेगी, तब मैंने जल्दो २ में अन्त के दो अध्याय अपने अनुष्ठान से समय निकाल कर लिख दिये और अब यह उसी रूप में पाठकों के सामने आ रही है। १०।१२ वर्षों में 'मीरा' के सम्बन्ध में बहुत सी खोजें हुई हैं, उनके ऊपर कई नये ग्रंथ बने हैं, सुनते हैं मारवाड़में उनका कोई बड़ा भारी स्मारक बना है और बहुत से गवेषणापूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं। एक बार इच्छा हुई कि इस सब सामग्रियों को एकत्रित करके 'मीरा' के सम्बन्ध में फिर से कोई नया ग्रंथ लिखा जाय, किन्तु मुझसे ऐसा कहाँ हो सकता है। अंत में यही निर्णय हुआ कि जैसा भी कुछ है, वैसा ही प्रकाशित हो जाय। आगे फिर देखा जायगा। इसलिये इसमें बहुत-सी त्रुटियाँ होंगी ही। वह सब पाठकों की कृपालुता और सारआहिता के सम्मुख क्षम्य हो ही जायँगी।

'मीरा' के सम्बन्ध में कुछ लिखना मेरा बाल-चापल्य ही है। मुझ जैसा नीरस व्यक्ति, जो सदा धर्म-कर्म में ही लगा रहता है, उस प्रेम की सजीव मूर्ति रसरूपा देवी के सम्बन्ध में कह ही क्या सकता है। ब्रजांगनाओं के सम्बन्ध में हम केवल पढ़ते ही थे, किन्तु इस प्रमोन्मादिनी ने तो वे सब दशायें संसार के सामने प्रत्यक्ष प्रकट करके दिखा दीं। मीरा का प्रेम निश्छल है, निष्कपट है, स्वाभाविक है। उसमें

वनावट, दिखावट, तथा पदार्शन की भावना की गंध भी नहीं। उसने कविता के लिये कविता नहीं की, गाने के लिये गीत नहीं बनाये, उसने तो अपने हृदय की आहों से अपने प्राण ने बल्लभ को रिभाया है, उन्हें ही अपना दुःख-दरद सुनाया है। उसे अब आप चाहें कविता कह लें या गीत, पुस्ताव में वे उसकी आहें हैं, अन्तर्ज्वाला के कण हैं, हृदय के सजीव मूर्तिमान उद्गार हैं।

यद्यपि मैं प्रेमी नहीं, प्रेम की साँकरी गली की ओर कभी निकला नहीं। फिर भी इन प्रेम के पागलों की बातें कुछ-कुछ मुझे भाती हैं, वे मेरे पत्थर-जैसे, फौलाद-जैसे कठोर-हृदय पर अपना कुछ-कुछ प्रभाव डालती हैं। मैंने देखा है कलि-पावनावतार महाप्रभु चैतन्य देव और मीराबाई के जीवन में कितना बड़ा साम्य है। दोनों के ही जीवन में एक सी मस्ती है, एक-सी तन्मयता है, एक-सी भावुकता है। दोनों के हृदय में प्रेम की एक-सी हिलोरे उठ रही हैं, एक-सी ही लहारे उठ रही हैं और एक सा ही बवंडर आया हुआ है। दोनों के ही आराध्य वे ही श्यामसुन्दर नटवर गिरिधारी, मुरली-धारी बनवारी हैं। दोनों ही की उपासना मधुर-रस की है। दोनों ही गिरिधर नागर में कान्ता-भाव रखकर उनके मिलन अंग-स्पर्श, चुम्बन, परिभ्रमण के लिये छटपटाते हैं, बिललाते हैं, अधीर होते हैं। दोनों के ही हृदयों को विरह के बाण ने वेधकर बड़ा सा व्रण बना दिया है। उसकी वेदना में दोनों ही एक तरह छटपटाते हैं, चिल्लाते हैं, विलाप करते हैं। दोनों ने ही स्वजन, परिजन, गुरुजनों को त्यागकर, संसार से वैराग्य धारण करके एकांत भाव से अपने आराध्य देव को रिभाया। दोनों ने ही अपने प्यारे के दो महाधामों में—एक

न जगन्नाथपुरी में, एक ने द्वारिकापुरी में—जाकर अपना निवास बनाया। दोनों ही एक समय में—एक काल में उत्पन्न हुए—मभव है वे स्थूल शरीर से परस्पर न मिले हों, किन्तु दोनों का ही मन परस्पर मिला रहता था। 'मीरा' ने तो महाप्रभु के सम्बन्ध का एक गीत भी गाया है। आश्चर्य तो यह है कि दोनों ही प्रायः समान काल में इस अवनी पर प्रकट रूप में रहे। दोनों ने ही लगभग १०११० वर्ष इस स्थूल शरीर को धारण किया और अन्त में दोनों एक ही रूप से अन्तर्धान भी हुए। एक तो भोजगन्नाथ जी के श्रीविग्रह में सशरीर विलीन हो गये। उधर वह भी इस देहसहित अपने इष्टदेव श्रीश्याम-सुन्दर द्वारिकानाथ के आश्रम में एकीभूत हो गई।

कैसा आश्चर्यजनक मान्य है, इन दोनों के जीवन में। भानों एक ही पदार्थ दो भागों में विभक्त हो गया; एक ने बँग-देश को अपनी लीला-भूमि बनाया, दूसरे ने मारवाड़-देश को धन्य बनाया। बंग-भूमि भावमयी भूमि है, वहाँ भावुकता का प्राबल्य है। बंगवासी स्वभाव से ही ललित कलाओं के उपासक होते हैं, उनका हृदय रममय होता है। संगीत उनका स्वाभाविक गुण है, उनका जीवन संगीतमय होता है। पर्वों में, उत्सवों में, दैनिक जीवन में सर्वत्र वहाँ संगीत का साम्राज्य है। वे जिसे बढ़ाते हैं पराकाष्ठा पर पहुँचा देते हैं। उनमें ऐसी क्षमता है। यदि कहीं 'मीरा' का जन्म बंगदेशमें हुआ होता तो आज उसके ऊपर सैकड़ों हजारों बड़े २ ग्रंथ बन जाते। उसके पदों की भाँति २ से आलोचना होती। उसके अनेक स्मारक बनते और न जाने क्या क्या होता। किन्तु उसने मारवाड़ जैसे बालुकामय प्रदेशको अपनी जन्म-भूमि बनाया। जो कर्म-प्रधान देश है।

[घ]

जहाँ वीरता का साम्राज्य है, जहाँ किसी को ऊँचा उठाना तो अलग रहा, उसे पछाड़ देने की ही बात सोची जाती है, जहाँ के ऋषि साक्षात् श्रीकृष्ण को भी शाप देने को तैयार हो गये कि तुमने महाभारत युद्ध क्यों कराया, वहाँ मीरा के महत्व को प्रकट करने का प्रयत्न कौन करता, यद्यपि मीरा राजवंश में पैदा हुई, एक बड़े राज्य में विवाही गई, तो भी उसके प्रति ऐसी उदासीनता । ये राज्य चाहते तो उसके लिए न जाने क्या क्या करते । किन्तु अभी तक उनके पदों का पता नहीं चला, उनके ग्रंथ भी अभी प्रकाशित नहीं हुए और न उनकी जन्म-तिथि का ही ठीक ठीक पता चला । यह कितनी लज्जा की बात है ।

जहाँ तक मुझे पता है, मीरा के भावों का प्रचार करने के लिये न कोई सभा है न मीरा के नाम का कोई सम्प्रदाय ही चलता है, किन्तु इन सब के न होते हुए भी उसने सम्पूर्ण भारत में और विदेशों में अपना घर कर लिया है । 'मीरा' हमारे घर की बन गई है । उसके पदों ने आज से नहीं, सैकड़ों वर्षों से देश के कोने कोने में अपना साम्राज्य जमा लिया है । श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव का विशेष प्रचार बंगाल में ही हुआ । बंगाल के बाहर तो उनका नाम इधर २० । २५ वर्षों से ही प्रकट होने लगा है । श्री वृन्दावनधाम से, जहाँ हजारों उनके संप्रदाय के अनुयायी हैं, उस संप्रदाय का प्रचार-प्रसार हुआ । कुछ बंगालियों और उन्हींके सम्प्रदाय वालों को छोड़ कर सार्व-साधारण में उनका नाम भी कोई नहीं जानता था । स्वयं मैं ही इतने दिन ब्रज में रहा, वहीं पढ़ा, वहीं पैदा हुआ, फिर भी अपनी अवस्था के १७ वें वर्ष में मैंने महाप्रभु का नाम सुना । महाप्रभु ने स्वयं कृपा करके

जीवों के हृदयों में अपने नाम के प्रति अनुराग उत्पन्न किया है। किन्तु मीरा तो गुजरात, मारवाड़, व्रज, पंजाब तथा समस्त देश में स्वतः ही अपनी भावना से आज लगभग ४०० वर्ष से फैल गई। घर घर में उसके गीत बड़े चाव से गाये जाते हैं। उसके भजनों में ऐसी मोहकता है, कि वे अपने आप हृदय में स्थान कर लेते हैं। उनमें इतनी मिठास है कि हृदय पिघलने लगता है। वैसे तो मीरा के पदों का मैंने मातृ-स्तनों के साथ ही पान किया है, किन्तु एक बार मैंने मीरा का एक पद सुना, जिसने मेरे हृदय पर बिचित्र प्रभाव डाला।

यह लगभग २१-२२ वर्ष पहिले की बात है। तब मैं काशी में एक हिन्दी मासिक पत्र का संपादक था। हिन्दू कालेज में महामना मालवीयजी के द्वारा हिन्दू सभा का एक बड़ा भारी उत्सव हुआ। काशी-नरेश उसके सभापति थे। हज्जारों की भीड़ थी। भीड़ में कुछ कोलाहल हुआ, उसी समय एक बंगाली युवक खड़ा हुआ। अब उसका नाम तो मुझे याद नहीं रहा। परिचय में बताया गया था कि ये जर्मनी अमेरिका आदि देशों में संगीत की उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करके लौटे हैं; इकहरा शरीर था, गौर वर्ण था, युवावस्था थी। उसने मीरा का एक भजन गाया—

म्हँने चाकर राखो जी, गिरिधारी लाला।

भगवान ने उस बंगाली युवक को कैसा अद्भुत कठ दिया था। हज्जारों की भीड़ स्तम्भित हो गई। एक सुई भी डालो तो उसकी आवाज सुनाई दे। अब मुझे ठीक ठीक याद तो रहा नहीं कि वह बेला पर गा रहा था या हारमोनियम पर, किन्तु

[च]

वह तन्मय हो गया था। पदके अंत का शब्द जनता अपने आप कह उठती। गाते गाते जब उसने यह कड़ी गाई—

ऊँचे ऊँचे महल बनाऊं विच विच राखूँ बाड़ी।

सामलिया के दरसन पाऊ ओढ़ि कुसुम्बी साड़ी।

अहो ! उस समय वह अपने आपे में नहीं रहा, एकदम बिखर गया, जनता वाह-वाह चिल्ला उठी। फिर सुनाइये फिर सुनाइये। पता नहीं कितने बार उसने सुनाया। मेरे हृदय पर उसका विचित्र प्रभाव पड़ा। उसकी ध्वनि अब तक मेरे कानों में गूँज रही है। किसी पुरुष-गायक के मुख से मीरा का यह पद फिर उस तरह सुनाई नहीं दिया।

वैसे तो मीरा के पदों को जो भी गावे, वे उसी के मुख से अच्छे लगते हैं। किन्तु उनकी यथार्थता तो नारी-कंठ से ही प्रकट होती है; क्योंकि उसने कविता नहीं बनाई, अपना हृदय काढ़ कर रखा है, अपनी कसक को ही सजीव साकार रूप दे दिया है; उसमें चाहे कवित्व के बाह्य गुण न भी हों, किन्तु अन्तःकरण की आह है, जिसे नारी-हृदय ही अनुभव करके गा सकता है। किस शब्द में कहाँ लोच देना है, कहाँ किस भाव से स्वर उठाना है, यह सीखने की चीज नहीं। पुरुष-गायक नारी हृदय-भीतर रखे बिना उसे व्यक्त ही नहीं कर सकता।

कितनी बार अनेक बहिनों के मुख से मीरा के पदों को सुनकर मेरी फूटी आँखें बही हैं, कितनी बार नीरस हृदय वाला मैं मीरा के हृदय-वेधी पदों को सुनकर रोया हूँ। इसे यहाँ कैसे बताऊँ। एक राज-परिवार की बहिन थी; जब वह अपने कण्ठ से मीरा के इस पद को गाती और

[छ]

स्वयं भी उसमें तन्मय होकर रोने लगती, तो ऐसा वहाँ कोई भी न होता जो रोने न लगता । उससे अनेक बार मैंने यह पद सुना—

नंदनंदन बिलमाई, बदरा ने घेरी आई ।

इत घन गरजे, उत घन गरजे चमकत वज्जु सवाई ॥१॥

उमड़ उमड़ चहुँ दिशि ते आयो, पवन चले पुरवाई ॥

दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल शब्द सुनाई ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर चरण कमल चतलाई ॥

कुछ बहिनें आकर मिलकर इस पद को अनेक बार अपनी करुणाभरी वाणी से गाती—

हाँ कोई कहियो रे, कोई कहियो रे, पिय आवन की ।

आवण की मन भावन की—कोई कहियो०

जब गाते गाते इस कड़ी को गाती—

आपन आवे लिख नहिं भेजे, बानि पड़ी ललचावन की ।

तब सब के नेत्र सजल हो जाते ।

मीरा के पदों में एक बड़ी विशेषता है । उनमें प्रान्तीयता नहीं । यद्यपि उनमें मारवाड़ के शब्द हैं, किन्तु जो भी गाता है, ऐसा लगता है मानों मीरा उसी के प्रान्त की थी । जय गुजराती बहिन गाती हैं, तो विलकुल ऐसा लगता है कि छींट की ओढ़नी ओढ़े बहिन गुजराती मीरा गा रही हैं, जब मारवाड़ की गाती हैं तो मारवाड़ी, यहाँ तक कि बंगाली मद्रासी बहिनों के कंठों से भी ऐसा ही लगता है । अभी हाल में हम बंगाल की यात्रा में गये । वहाँ अनेक गायकों ने और बहुत सी बहिनों ने हमें मीरा के पद सुनाये । बंगाली बहिनों के करुण कंठ से मीरा के पद मूर्तिमान करुणा का रूप धारण करके बोलने लगते हैं ।

[ज]

अभी इन्हीं गत जाड़ों में हमने दक्षिण की यात्रा की। तीन बार मैं दक्षिण की यात्रा में गया हूँ। तीनों बार वहाँ के नर-नारियों ने मुझे अपने स्नेह में सराबोर कर दिया है। दक्षिण-देश भक्ति की जननी है, वहीं भगवती भक्ति उत्पन्न हुई है। भारतीय संस्कृति को अब भी यत्किञ्चित् रक्षा दक्षिणात्यों ने विशेषकर वहाँ की माताओं ने कर रखी है। दक्षिण ने भक्तिमार्ग के बहुत से आचार्यों को उत्पन्न किया है। दुःख है कि उधर हिन्दी का जितना प्रचार होना चाहिये नहीं हुआ। बैसे वहाँ के लोग यहाँ के भक्ति-साहित्य की जानकारी के लिए बड़े लालायित हैं।

अब के श्रीरामेश्वर में ही श्री नटेशजी पहुँच गये। आप मदुरास में जिलाबोर्ड के दफ्तर में किसी प्रतिष्ठित पद पर हैं। यात्रा भर वे हमारे साथ रहे। वे ही हमें मदुरा में पद्मालय में श्री विश्वनाथन् जी के यहाँ ले गये। माता जी के प्रेम ने हमें निहाल कर दिया। दूर के ढोल सुहावने होते ही हैं, श्री विश्वनाथन् जी ने मेरी 'चैतन्य चरितावली' का तामिल भाषा में अनुवाद किया है। उसी सम्बन्ध से उनसे बहुत पहिले से लिखा पढ़ी थी। दर्शन अबके ही हुए। ५७ दिन हम रहे। कितनी चहल-पहल, कितना आनंद, कितना उत्सव, यहाँ रहा। दूर दूर से बहुत से भक्त आये। जो आते वे ही हमें मीरा के पद सुनाते। हम इसका कुछ रहस्य न समझ सके। जो बहिर्ने हिन्दी बिलकुल नहां जानतीं, वे भी मीरा के पद सरलता से गा लेतीं। दक्षिण में वीणा का प्रचार अब भी है। बहुत से लोगों को मैंने मीरा के पद सर्वसाधारण-सभाओं में गाते देखा। कूर्मदासजी सब हिन्दी पद ही गाते थे। मैंने समझा मेरे कारण ये लोग मीरा के पद सुनाते

[ॐ]

होंगे। जब हम श्री नटेशजी, श्रीशुकम्, शास्त्रीजी, कूर्मदासजी तथा कुमकोणम् के भक्त सब मिलकर श्रीरंगम् आये, तब इसका रहस्य हमें मालूम पड़ा।

‘श्रीरंगम् में जिनके यहाँ मध्याह्न का प्रसाद था, वही किसी ने कहा अमुक बहिन को बुलालो। वह भी दर्शन कर जायगी। कोई भाई दूर गाँवसे उसे ले आये। वहाँकी माताओं ने कहा—यह बड़ा सुन्दर गाती है। नटेशजी ने उससे गाने को कहा। कितना सुरीला उस बहिन का कंठ था। उसने कई स्तोत्र सुनाये और अंत में ये श्लोक सुनाये—

(१)

वन्दे मोहन मोहनीं सहचरीं श्री चम्पवल्लीं मुदा ।
राधामाधव खेलनामृतरसस्फीतांच पद्मावतीम् ।
श्रीलीला शुक्रदेव चित्त कुमुद ज्योत्स्नां च चिन्तामणिम् ।
कृष्णप्रेमवृणीकृतत्रिभुवनां मीरां च मत्स्वामिनीम् ।

(२)

रसिकवर रास रसिका रसना रस सार रन्थने सरसा ।
विलसति चम्पकवल्ली चामीकर वल्लरीव चामरिका ।
राधामाधवनिधुवन मधुरिम साम्राज्य सीमपदपद्मा ।
जयदेव सद्म पद्मा मदयति पद्मावती मुदाहृदय ।

(३)

हरि चिन्तन वितरण चण चिन्तामणि निकर चरण नख किरणा ।
लीलाशुक चिन्तामणि रमितां चिन्तामणि मुदं त नुते ।
गिरिधर नागर सरभस रमण समीरावधूतबन्धुतृणा ।
चरण नखमिहिरदारितमनसिज तिमिराममारण मीरा ।

In the world of Krishna Consciousness, all particles of dust, wherever they may be, and whatever position they may hold, are blessed to enjoy equal intensity of Radha-Krishna Ananda. Champaklata, one of Radha Krishna's ashtasakhis, whose duty was to hold the Chavanra in their front, was born to spread Krishna Prema on Earth, first as Padmavati (Sri Jayadeva's wife), next as Chintamani' (Lilasuka's wife) and last as Mira.

JAYA SRI KRISHN

‘कृष्ण-बोधमय जगत् में समस्त धूलि-कण—वे कहीं भी हों और कैसी भी स्थिति के अधिकारी हों—राधा कृष्ण के आनन्द का समानता से उपभोग करते हैं । चम्पकलता ने, जो राधा-कृष्ण की अष्टसखियों में से एक थी और जिनका काम चँवर डुलाना था, कृष्ण के प्रेमको पृथ्वी पर फैलाने के लिये जन्म लिया था, पहले पद्मावती (श्री जयदेव जी की स्त्री) के रूप में और फिर चिन्तामणि (लीलाशुककी स्त्री) के रूप में और अन्तिम बार मीरा के रूप में ।

उस बहिन के मुख से संस्कृत में मीरावाई की स्तुति के ये श्लोक सुनकर मैं अवाक् रह गया । आज तक मैंने संस्कृत में मीरावाई की स्तुति का एक भी श्लोक नहीं सुना था । मेरी बड़ी उत्कण्ठा बढ़ी, मैंने पूछा—‘ये श्लोक किसने बनाये ।’

तब नटेशजी ने बताया—‘हमारे यहाँ मदरास में एक बहुत बड़े सरकारी नौकर मीरा-भक्त हो गये हैं । उनका नाम मीरादासी था । वह मीरादेवी को ही अपना इष्ट मानते

थे । मदरास प्रान्त में मीराबाई को इष्ट मानने वाले भक्त का नाम सुनकर मेरा हृदय भर आया । मैंने मन में कहा—
‘देवि ! तुम किसी एक की नहीं, सब की इष्ट हो ।’

जब हम मदरास श्री नटेश जी के घर आकर सदल बल ठहरे तो वहाँ तो बच्चे-बच्चे के मुख पर मीरा के पद थे । गुर्वायूर के भक्त आये, उनकी छोटी बच्ची मीरा के पद गाती । नटेश जी की छोटी बच्ची मीरा के पद गाती तो ऐसा लगता मानों साक्षात् मीरा ही गा रही हो । उसे रुक्मिणीमंगल, रास पंचाध्यायी, गीतगोविन्द कंठ थे । एक श्लोक बोलते ही उसकी आँखें बहने लगतीं । ५-७ दिन उस परिवार में रह कर हम उनमें घुलमिल गये । मानों किसी आश्रम में ठहरे हों ।

नटेश जी के घर में, गुरुनिलयम् में और और जगह उन भक्तशिरोमणि महाभाग मीरादासी जी के बड़े-बड़े चित्रों के दर्शन किये । अब उनका शरीर नहीं है । मदरासमें उनके बहुत से योग्य शिष्य हैं जो मीरा को ही अपना इष्ट मानकर धूजते हैं । उनके लड़के भी हैं; वे संभवतया कलकत्ते रहते हैं और वहाँ दक्षिण-भारत-संकीर्तन-मंडली भी उन्होंने स्थापित कर रखी है ।

यहाँ आकर मैंने नटेशजी को लिखा कि श्री मीरादासी जी का संक्षिप्त चरित्र मुझे लिख भेजें । उन्होंने अंगरेजी में उनके सम्बन्ध में जो कुछ लिख भेजा है उसका भावानुवाद हम नीचे देते हैं । इससे पाठकों को पता चलेगा कि इस मदरासी भक्त ने मीरा को अपना इष्ट क्यों माना ?

JA1 SRI RADHAKRISHNA.

Premis' lives cannot be sketched. They are 'रहसि संविदो याहृदि स्पृशः' and 'रहसि संविदं हृच्छयोदयं' । Their lives should be felt; and this can be achieved only by a premi. Nevertheless, an attempt will be made to draw one or two pen pictures of this Mira-dasa or Mira because,

न तथा ह्यध्वान् राजन् पूयेत तप आदिभिः
यथाकृष्णार्पितप्राणः तत्पूरुषनिषेवया

As this blessed devotee lay on his back one star-lit night on the top floor of his residence in Madras, a voice beckoned to him and bade him look at धूमकेतु (a meteor) in the sky. There was a meteor then actually in the sky and this Premi saw a blue figure descend therefrom and reach his side. As it approached him, he recognised it to be Mira enveloped in a dazzling cool blue light. From that time onwards, Mira possessed him and he felt he was a tool in the hands of Mira who was herself living in the blue boy of blessed Brindavan

His very existence (physical, mental and spiritual) underwent a definite change. He was a regular Gopi revelling in the Krishna's गतिस्मित प्रेक्षणभाषण । His own gait, smile, look and talk became naturally attractive and bewitching. He was found to spend the rest of his life for Shayam's Mira. Bhagavata Dharma was his ideal; and Lord was seen to help him live up to it. Sri-mad Bhagavatam, Namasankirtanam and Bhaktas' lives engaged him throughout the rest of his life.

He was transferred to Bengal; and holding a high Gazetted post in the Government service, he was able to acquire first-hand information about and draw inspiration from Lord Chaitanya Mahaprabhu. He found that his guiding principle of Life was the same as that enunciated by Lord Krishna Chaitanya.

आराध्यो भगवान् ब्रजेशतनयः तद्धाम वृन्दावनं
रम्या काचिदुपासना ब्रजवधूवर्गेण या कल्पिता
श्रीमद्भागवतं पुराणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्
श्रीचैतन्य महाप्रभोः मतमिदं तत्राग्रहो नापरः

During his last moments when he could not move his limbs or speak, he requested his disciples to write on his tongue the sweet name राधाकृष्ण and when this was done he felt ecstatic.

What words can describe the devotional life led by this Premi, who lived in Mira-Chaitanya who, in turn were immersed in Rahda-Krishna? The disciples and the descendants of this Premi, who are not very many, are even today monuments of real Krishna Bhakti and they are capable of teaching you in silent eloquence that Krishna-prema is the one supreme ideal of Humanity. They also feel that they are always living in this Premi who is to them, अरण मीरा राधाकृष्ण ।

O Krishna ! you are the real mother, you are the real Father, you are the real Bandhu, you are the real Friend, You are the Knowledge, you are the wealth and you are everything. Who can praise to his satisfaction the deeds and glory of you and your Kith and Kin ?

Jai Sri Krishna

“जय श्री सधाकृष्ण”

प्रेमियों के जीवन की तस्वीर नहीं खींची जा सकती ।
...उनके जीवन का अनुभव करना चाहिये और यह एक
प्रेमी ही कर सकता है । तब भी एक या दो मीरादास
या मीरा के कलम-चित्र बनाने की कोशिश की जायगी ।
न तथा... ..

जब यह भक्त मदरास के अपने मकान में एक तारकमय
रजनी में लोटा हुआ था, अकस्मात् एक शब्द ने उसे इशारा
किया और आकाश में धूमकेतु की तरफ देखने को कहा । उस
समय वास्तव में आकाश में एक तारा था । और इस प्रेमी
ने एक श्याममूर्ति उतरती हुई और अपने पास पहुँचती हुई
देखी । जब वह उस तक पहुँची, उसने पहिचाना—वह मीरा
थी और उसके चारों तरफ शीतल श्याम प्रकाश था । उस
समय से मीरा उसके हृदय में बैठ गई और उसने अनुभव
किया कि वह मीरा के हाथ का एक यन्त्र था । शारीरिक, मान-
सिक और आध्यात्मिक, सभी दृष्टियों से, उसका एक पूर्ण
परिवर्तन हो गया । कृष्णके ‘गतिस्मित प्रेक्षण भाषण’ में वह
गोपी बन गया । उसका आकार, उसकी मुस्कुराहट, चितवन
और बात-चीत सहज ही हृदय को खींचनेवाली और असर
करने वाली हो गयीं । उसने अपना बाकी जीवन श्याम की
मीरा के लिये व्यतीत किया । भागवत धर्म ही उसका उद्देश्य
था । भगवान उसकी सहायता करते हुए दिखलाई देते थे ।
वे श्रीमद्भागवतम् और भक्तों की जीवनियों में बाकी जीवन
में संलग्न रहे । वह बंगाल बदल गये और एक सरकारी ऊँचे
गजटेल पद पर थे । उन्होंने प्रारम्भिक जानकारी चैतन्य

[१]

महाप्रभु के द्वारा प्राप्त की। उन्होंने मालूम किया कि उनके जीवन के नियम—बिलकुल वही थे जिन्हें श्रीकृष्ण-चैतन्य ने बताया।

अपने अंतिम समय में जब वे न हाथ-पैर हिला सकते थे और न बोल सकते थे, उन्होंने अपने चेहों से कहा कि वे उनकी जिह्वा पर राधाकृष्ण का मधुर नाम लिख दें। जब ऐसा किया गया तब वे बहुत प्रसन्न-चित्त हो गये। इस प्रेमी के जीवन को, जो मीरा-चैतन्यमय था, कौन से शब्द वर्णन कर सकते हैं। इनके शिष्य और संतान, जो बहुत नहीं हैं—इस दिन तक कृष्ण की सच्ची भक्ति के स्तम्भ हैं तथा इस बात की चुपचाप शिक्षा देते हैं कि कृष्णप्रेम ही मनुष्यता का सबसे उच्च अदर्श है। वे (शिष्य-संतान) इस बात का भी अनुभव करते हैं कि सदैव उस प्रेमी के साथ रहते हैं जो कि उनके लिये ‘अरण्य …… हैं’।

‘त्वमेव माता च० … कौन आप (कृष्ण) के कार्य और बढ़ाई की प्रशंसा अपने संताप तक कर सकता है।’

“जय श्रीकृष्ण”

इससे पाठक समझ गये होंगे, कि मीरा मानुषी नारी नहीं थी; वह एक नित्यलोक की श्यामसुन्दर की अत्यंत ही प्यारी सहचरी थी और अब भी है। कृपा करके जिनके सामने वह झुकना चाहती है, उसके सामने झुक कर उसे अपने असली रूप का परिचय कराती है तथा उसे अपने प्रियतम श्यामसुन्दर के परिकर में मिला लेती है।

इस बात को यदि कोई हम जैसे लोग कहते, तो कोई भी न करता। कह देते—‘ये लोग तो अपने खाने-कमाने और मान-प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ऐसी ऐसी बेसिर-पैर की बातें गढ़ते

ही रहते हैं।' किन्तु जब यह घटना एक अन्य भाषा-भाषी अन्य प्रान्त निवासी, आजकल की परिभाषा में सुशिक्षित और सभ्य सरकारी सम्मानित पद पर आरूढ़, आधुनिक समाज के एक व्यक्ति के साथ घटित होती है, तब तो शंका के लिये स्थान ही नहीं। यों विश्वास न करो तो दूसरी बात है। इस तरह मीरा नें अटक से कटक तक, हिमालय से कन्याकुमारी तक, अपने अपूर्व भक्ति-भाव के लिये ख्याति प्राप्त करली है।

प्रकट रूप में मीरा के नाम से कोई पंथ नहीं और उसका न होना ही श्रेयस्कर भी है। जैसे गोस्वामी तुलसीदास जी एक संकीर्ण परिधि वालों के न होकर सर्व साधारण के हैं, उसी तरह मीरा पर सभी सम्प्रदाय, सभी पंथ तथा सभी मार्गों के समान स्वत्व हैं। यही कारण है कि आज मीरा समान भाव से मानी और पूजी जाती है। जैसे आजकल जो भी अंधा हो, उसी को हम सूरदास कहने लगते हैं, उसी प्रकार जो भी लड़की भक्ति-भाव करने लगती है, हम उसे मीरा कहने लगते हैं। ऐसी बहुत-सी बहिनों को देखा है, जिन्होंने मीरा के चरणों का अनुसरण करते हुए अपनी सम्पूष्ण आयु अविवाहित रहकर बितानेका निश्चय किया है। ऐसी बहुत सी बहिनें हैं, जिन्हें मीरा के आदर्श से शान्ति मिली है। मीरा ने नारी-समाज का मुख उज्ज्वल किया है, उसके गौरव को बढ़ाया है, जिनकी दृष्टिमें ये संसारी सुख-भोग तुच्छाति-तुच्छ हैं, जिन्हें सन्तान की इच्छा नहीं, जो अपने जीवन को पवित्रतम रूप में बिताना चाहती हैं, उनके लिये मीरा से बढ़कर आदर्श कहाँ प्राप्त होगा।

मीरा के सम्बन्ध में लोगों के आज से पूर्व अनेक प्रकार के मत रहे हैं। किन्तु कुछ बातें तो चित्तौड़ और मेड़ते के

[थ]

पुराने कागजों तथा राजाओं की वंशावली से निश्चित होगई हैं; जैसे, वे मेड़ते के रतनसिंहजी की पुत्री, रावदूदाजी की पोती, और रावजोधारी की परपोती थी।

मीरा का विवाह चित्तौड़ के राणा साँगा के बड़े पुत्र राणा भोजराज से हुआ। अभी तक उनके जन्म की ठीक ठीक तिथि या सन् सम्बत् ज्ञात नहीं हुआ, किन्तु सभीका ऐसा अनुमान है और एक दो वर्ष का अंतर भले ही पड़े, यह ठीक ही प्रतीत होता है कि सम्बत् १५५५ के लगभग उनका जन्म हुआ। सम्बत् १५७२—७३ में उनका विवाह हुआ, लगभग १० वर्ष बाद उनके सांसारिक पति भोजराज का देहावसान हुआ। उसके बाद मीरा ५६ वर्ष ही चित्तौड़में रहीं; इसी बीच में उनके सौतेले देवर राणा विक्रम ने उन्हें तरह तरह की यातनायेँ दीं। लगभग सम्बत् १५८७, ८८ में वह मेड़ते चली आईं। वहाँ बह साल दो साल रही होगी। जब मेड़ता रावबीरमदेव जी के अधिकार में चला गया तो बह वहाँ से सदा के लिये निकल पड़ीं। २-४ साल बह श्री वृन्दावन, काशी आदि तीर्थों में घूमीं। फिर बह द्वारका जी चली गई और वहाँ १०-१२ वर्ष रहने के अनंतर लगभग संवत् १६०३—४ में श्रीरणछोर जी के श्रीविग्रह में विलीन हो गईं।

यह जो हमने सम्बत् १६०३-४ उनके परलोक-गमन का समय लिखा है, आज कल के नूतन लेखकों के मतानुसार लिखा है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी ने उदयपुर राज्य के मतानुसार उनके परलोकगमन का समय सम्बत् १६२० बताया है। अभी इस विषय में पूर्ण निश्चय नहीं हुआ। सम्भव है, और भी अधिक वे धरा-धाम पर विराजी हों।

[द]

यह प्रसिद्ध है कि मीराबाई ने गोस्वामी तुलसीदास जी को मेवाड़ से यह पत्र लिखा था —

‘श्री तुलसी सुख निधान दुख हरन गुसाईं ।
 वारहि बार प्रनाम करूँ हरो सोक समुदाई ॥
 घरके स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई ।
 साधु संग अरु भजन करत मोहिँ देत कलेस मढ़ाई ॥
 बालपने ते मोरा कीन्ही गिरधर लाल मिताई ।
 सो तौ अब छूटै नहि क्योहूँ लगी लगन बरिआई ॥
 मेरे मात पिता के सम हौ हरि भगतनि सुखदाई ।
 हमकुँ कहा उचित करिबो है सो लिखियो समुझाई ॥’

इसका उत्तर गोस्वामीजी ने यह दिया था—

‘जाके प्रिय न राम वैदेही ।
 तजिये ताहि कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही ॥
 तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषन बन्धु भरत महतारी ।
 वलि गुरु तज्यो कन्त ब्रजवनतनि भे सब मंगलकारी ॥
 नातो नेह रामसों मनिअत सुद्ध सुसेव्य जहाँ लौं ।
 अंजन कहा आँख जो फूटे, बहुतक कहाँ कहालौं ॥
 तुलसी सो सब भाँति परमाहित पूज्य ग्रान ते प्यारे ।
 जासों होइ सनेह रामपद एतौ मतौ हमारौ ॥’

आजकल के बहुत से लेखकों ने तो इस पत्र-व्यवहार को कपोल-कल्पना ही माना है । उनका अनुमान यह है कि गोस्वामी तुलसीदासजी की विशेष ख्याति ‘रामचरितमानस’ रचने के बाद अर्थात् संवत् १६३१ के १०।२० वर्ष पश्चात् हुई । अर्थात् मीरा के परलोक गमन के २५, ३० वर्ष बाद । फिर इस पत्र-व्यवहार का होना सिद्ध नहीं होता । मान लो

[ध]

कि वे पहिले ही प्रसिद्ध हुए हों तो भी वह मेवाड़ और मेढ़ता दोनों से बहुत पहिले ही चली आई थी ।

जब से गोस्वामी जी के शिष्य श्री वेणीमाधवदासजी का 'मूल-गोसाई-चरित' प्रकाशित हुआ है, तब से कुछ लोग इस पत्र-व्यवहार की प्रामाणिकता पर विश्वास करने लगे हैं । श्री वेणीमाधवदास जी गोस्वामी जी के दीक्षा-शिष्य थे; २-४ वर्ष नहीं, पूरे ५०।६० वर्ष वे उनके समय में उनके साथ उपस्थित रहे । ऐसे व्यक्ति का भी ग्रंथ प्रामाणिक न माना जाय तो और कौन प्रामाणिक माना जा सकता है । अतः कुछ लोग पत्र-व्यवहार को तो मानते हैं, किन्तु सम्बत् के विषय में उन्हें सन्देह है ।

महात्मा वेणीमाधवदासजी ने स्पष्ट यह नहीं लिखा कि यह किस सम्बत् की बात है, मीराबाई का पत्र कब आया । सम्बत् १६१६ में गोस्वामी जी का चित्रकूट पर निवास लिखा है और उसी समय गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के भेजे हुए 'सूरदास जी आये हैं' । उन्होंने अपना सूरसागर सुनाया है । तब गोस्वामी जी ने विठ्ठलनाथ जी को एक पत्र लिखकर सूरदासजी के हाथ पठाया है । उसी प्रसंग पर ये दोहे लिखे हैं—

तब आयो मेवाड़ते, विप्र नाम सुखपाल ।

मीरा वाई पत्रिका, लायो प्रेम प्रवाल ॥

पढ़ि पाती उत्तर । लखे, गीत कवित्त बनाय ।

सबतजि हरि भजिबो भलो, कहि दिय विप्र पठाय ॥

प्रकृत प्रसंग में यही अनुमान होता है कि यह सम्बत् १६१६ के बाद की ही बात है । और, सुखपाल ब्राह्मण मेवाड़ से ही आया होगा । परन्तु १६१६ के बहुत पहिले उन्होंने मेवाड़ छोड़ दिया था ।

हम अपना अनुमान कहते हैं। वैसे ठीक-ठीक पता तो तब चले जब पूरा गुसाईं चरित प्रकाशित हो। क्योंकि, यह तो उस बृहद् गुसाईं चरित का सारांश-मात्र है। बड़े ग्रंथ में, संभव है, कुछ अधिक हो। यदि उसमें भी ये दो ही दोहे हैं तो हम सोचते हैं कि यह घटना श्रीद्वारिकाजी में हुई होगी। यह निश्चय है कि मीराबाई ने सम्बत् १६०० से पहिले ही मेवाड़ छोड़ दिया था और वे श्री द्वारिका जी में अधिक दिन १०।५ वर्ष तो अवश्य ही रही हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी तीर्थयात्रा करते हुए लगभग सम्बत् १६०० में श्री द्वारिका जी भी पधारे थे। वे प्रतिभावान थे, अलौकिक पुरुष थे। वहाँ उनकी प्रसिद्धि हुई होगी। संभव है, ख्याति सुनकर मीराबाई भी दर्शनों के लिए गई हों, उन्हीं दिनों मेवाड़ तथा मेढ़ता से लोग उन्हें लेने आये हों, वे जाने को सहमत न हुई हों, राज्य के लोग बहुत आग्रह करते हों, तब उन्होंने उसी समय मेवाड़ से आये हुए सुख-पाल ब्राह्मण के हाथों गोस्वामी जी को यह पत्र लिखा हो कि मैंने बाल्यकाल से ही श्री गिरिधर लालजी से प्रेम किया था, इस पर मेरे घरवालों ने बड़ी उपाधि उठाई, न वे मुझे साधु-सङ्ग करने देते थे, न भजन ही करने देते थे, इसलिए मैं सब छोड़-छाड़ कर यहाँ चली आई हूँ।

अब मेरे घर वाले फिर मुझे बड़े आग्रह से बुला रहे हैं। ऐसी दशा में मुझे क्या करना चाहिए।

इस पर गोस्वामी जी ने लिखा होगा कि चाहें वे कैसे भी प्रेमी हों, सगे-सम्बन्धी हों, यदि वे भक्त नहीं तो उन्हें शत्रुओं

की तरह समझ कर त्याग ही देना चाहिए । अंत में यह भी लिख दिया—

तुलसी सो सब भाँति परमहित, पूज्य प्राण ते प्यारो ।

जासों होह सनेह राम पद, एतो मतो हमारो ॥

जिस काम से पूभु के पूति प्रेम पैदा हो, जहाँ रहकर निर्विघ्न भजन होता हो, वही करो और वहीं रहो ।’

संभव है इस उत्तर को पाकर मीरा ने मेवाड़ न जाने का निश्चय कर लिया हो और अंत में वे श्री रणछोरलाल जी के श्रीविग्रह में बिलीन हो गई हों ।’

संभव है, यह चर्चा गोस्वामी जी ने कालांतर में श्रीवेणीमाधवदास से की हो । अब यहाँ जब विठ्ठलनाथ जी के पत्र का प्रसङ्ग आया तो हो सकता है कि श्रीवेणीमाधवदासजी को मीरा के पत्र-वाली बात भी याद आ गई हो और इस जगह उसका उन्होंने उल्लेख कर दिया हो । ऐसा सभी पुराने ग्रंथों में पाया जाता है । ऐसे प्रसङ्ग श्रीमद्-भागवत में बहुत हैं; बहुत-सी आगे की कथाएँ पहिले कह दी हैं, बहुत-सी पीछे की आगे कही हैं । शकटभंज और तृणावर्तवध—ये नाम-करण से पीछे की लीलायें हैं, किन्तु नाम-करण के पहिले कही गयी हैं । कुरुक्षेत्र में गोपों का संगम महा-भारत से भी पहिले का है, किंतु कहा गया है सबसे अंत में । जो कुछ भी हो । महात्मा वेणीमाधव दासजी के ग्रंथ से हम यही निश्चय कह सकते हैं कि श्री गोस्वामी जी तथा मीराबाई का पत्र-व्यवहार हुआ अवश्य, फिर चाहे वह चित्रकूट में हुआ

हो या श्री द्वारिका जी में, वह सम्बत् १६१६ में हुआ हो या सं० १६०३ के पहिले ।

इसी तरह एक विवादास्पद विषय मीराबाई की दीक्षा के सम्बन्ध में है । कोई तो उन्हें महात्मा रैदासजी की शिष्या बताते हैं । मीराबाई ने अपने कई पदों में भी उन्हें गुरु करके स्मरण किया है, जैसे—

रैदास संत मिले सत् गुरु ।

गुरु मिलिया रैदास जी, दीनी ज्ञान की गुटकी ।

मीरा ने गोविन्द मिल्या जी; गुरु मिलिया रैदास जी ।

कोई-कोई उन्हें श्री चैतन्य महाप्रभु के सम्प्रदाय में श्री-जीव गोस्वामी की मंत्रशिष्या बताते हैं; वे इसके प्रमाण में मीराबाई का बनाया यह पद उद्धृत करते हैं—

अब तौ हरी नाम लौ लागी ।

सब जग को यह माखन चोरा, नाम धरयो वैरागी ।

कित छोड़ी वह माखन मुरली, कहँ छोड़ी सब गोपी ।

मूँड़ मुँड़ाइ डोरि कटि बाँधी, माथे मोहन टोपी ।

मात जसोमति माखन कारन, बाँधे जाको पाँव ।

स्याम किशोर भयो नव गोरा, चैतन्य जाको नाव ।

पीताम्बर को भाव दिखावै, कटि कोपीन कसै ।

गौर कृष्ण की दासी मीरा, रसना कृष्ण बसै ।

इस पद में श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु (गौराङ्गदेव) की स्तुति है । इससे लोग अनुमान लगाते हैं कि वे उन्हीं के सम्प्रदाय में दीक्षित थीं । कोई कोई उन्हें श्रीवल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय की भी शिष्या बताते हैं ।

हमारा अपना अनुमान यह है कि वे श्री पूह्लाद जी की ही तरह नित्य-सिद्धा थीं। उन्हें जन्म-जन्मांतर ही संस्कार थे, जो बाल्य काल से ही स्वतः पुस्फुटित हो उठे। उन्होंने किसी से भी मंत्र-दीक्षा नहीं ली। हाँ, वैसे तो साधु-मात्र गुरु हैं। उन्होंने कई पदों में कहा है—साधु हमारे माता-पिता हैं। यह संभव है कि जिस भाली रानी के सम्बन्ध में श्रीरैदासजी के यहाँ जाकर शिष्य होना लिखा है, वह इनके ससुर की पत्नी हों। राजाओं के बहुत सी रानी होती हैं। भाली रानी को भी महात्मा प्रियादास जी ने चित्तौड़ की रानी लिखा है—‘बसंत चित्तौर माँझ रानी एक भाली नाम, नाम बिन कान खाली आनि शिष्य भई है।’ और यह भी लिखा है कि उसके आग्रहपूर्वक बुलाने से रैदास जी भी चित्तौर पधारे थे—‘गई घर भाली पुनि बोलि के पठाये अहो, जैसी प्रीति पाली अब तैसे प्रतिपारियै। आपहू पधारें, उन बहुधन, पट बारै, बिप् सुनि पाँव धरि, सीधां दै निवारिये।’

उन रानी के पास महात्मा रैदास जी के भजनों का संग्रह होगा, उन्होंने उन सब को पढ़ा होगा। इससे उनमें उनका गुरुभाव हो गया होगा। श्री चैतन्यदेव भी उनके लगभग समकालीन ही थे, उनकी भावभक्ति और प्रभुप्रेम में तन्मयता का भी उन पर प्रभाव पड़ा होगा; उसी प्रभाव में उनकी यह स्तुति की हीगी। कुछ भी हो संत परस्पर में एक दूसरे के गुरु-शिष्य होते ही हैं। उस समय के सभी सन्त मीरा के गुरु थे और सभी में उनकी आदर-बुद्धि थी। प्रेम-मार्ग ही उनका सम्प्रदाय था और श्री गिरधारी लाल ने ही स्वयं उन्हें प्रेम की दीक्षा दी थी। इस विषय में हमारी ऐसी ही मान्यता है।

मीरा जी के गिरिधरगोपाल के सम्बन्ध में एक कथा सुनी जाती है कि मीरा ने उनको एक साधु के पास देखकर मागा । साधु ने देना स्वीकार नहीं किया । तब भगवान ने उस साधु को स्वप्न दिया कि हमें मीरा के पास पहुँचा दो । साधु ने भगवत् आज्ञा का पालन किया । तब से वह उन्हें सदा अपने पास रखती । उसके अन्तर्धान होने के अनन्तर वे पुरोहित उन्हें साथ ले आये । उन्होंने उन्हें कहाँ रखा, इसका ठीक ठीक पता नहीं । कोई तो कहते हैं, विकोशी के एक मंदिर में हैं । जब हम गंगा किनारे किनारे पैदल भ्रमण करते थे तब ठीक-ठीक तो याद नहीं, संभवतया खजूरगाँव, असनी के पास कानपुर से आगे एक गाँव में गिरिधर गोपाल लाल के दर्शन किये थे । वहाँ के लोगों ने बताया कि ये मीरा जी के ही गिरिधर गोपाल हैं । राजपुरोहित यहीं रख गया था, वा रह गया था ।

मीराजी के पदों का कोई यथार्थ शुद्ध-संपूर्ण संग्रह अभी तक नहीं निकला । उनके रचे हुये तीन ग्रंथ बताये जाते हैं (१) नरसी जी का मायरा, (२) गीत गोविन्द की टीका और (३) राग गोविन्द । संभवतया उनके ये फुटकर पद इन तीनों से अलग हैं । 'नरसी का मायरा' की प्रतिलिपि मिलती बताई जाती है । यदि यह अभी तक प्रकाशित नहीं है तो इनसे प्रकाशित करने का प्रयत्न करना चाहिये । मीरा के पदों पर आलोचनात्मक निबंध और ग्रंथ लिखवाने चाहिये । इस प्रकार मीरा के दिव्य भावमय प्रेममय भावों का अधिकाधिक प्रचार और प्रसार होना चाहिए । उनके यथार्थ भावों का प्रचार तो यही है कि उनके जीवन का अनुकरण और अनुसरण करने वाली दिव्य देवियाँ उत्पन्न होकर श्रीकृष्ण-प्रेम में निमग्न हो जायँ ।

बहुत से उनके नाम की आड़ लेकर पाप में भी प्रवृत्त होते हैं, यह तो सर्वत्र ही होता है, ऐसे लोगों को कौन रोक सकता है। किन्तु श्रीकृष्ण-प्रेम में बनावट बहुत दिन चलती नहीं।

मीरा के सम्बन्ध में बहुत वक्तव्य है, किन्तु अब इतने ही से संतोष करूँगा। मुझमें विद्याबुद्धि योग्यता जैसी है, पाठक जानते ही हैं, शिष्टाचार दिखाकर अपनी अयोग्यता बताने में भी योग्यता की भूलक आ जाती है। प्रारब्ध जहाँ घुमाता है, घूमता हूँ, जो कराता है, करता हूँ। मेरे ग्रंथों से किसी का भला होगा, उपकार होगा, इस भावना से मैं संभवतया नहीं लिखता। स्वभावानुसार प्रकृतिवश होकर, कही की ईंट कहीं का रोड़ा जोड़ता रहता हूँ। माधव जी ने कृपा की है, अपने चरणों में रखा है, गङ्गा-यमुना के संगम में नित्य स्नान का अवसर प्रदान किया है। मैं माधव जी को छोड़ भी जाता हूँ, किन्तु वे इतने दयालु हैं, दूर से बुला लेते हैं। इधर १८-२० वर्ष से प्रयागराज में ही उन्होंने रख छोड़ा है। बीच-बीच में अनेक कारणों से जाना भी पड़ता है, किन्तु जैसे कोल्हू का बैल घूम फिर वहीं आ जाता है, आना पड़ता है। अपने रूखे और अहंकारी स्वभाव से दूसरे लाग अपने यहाँ ठहराने में शंकित होते हैं, हिचकते हैं। ऐसा ही एक प्रसङ्ग ३४ वर्ष पहिले आया था। इसीलिये प्रयाग को सदा के लिए छोड़ कर चला गया था। माधव जी ने फिर घेर-घार कर बुला लिया।

जिन दिनों मैं यहाँ रह कर अपना कुछ नियमानुष्ठान कर रहा था। उसी समय विहार-एसेम्बली के स्पीकर बाबू रामदयाल

सिंह जी सत्सङ्ग और गंगा-वास की इच्छा से मेरे समीप ही एक जमीन लेकर उसमें एक कुटिया बना कर रहने लगे थे। उनका बड़ा स्नेह था। इतने बड़े आदमी होकर भी मेरे सभी छोटे से छोटे कामों को स्वयं करते। मेरी प्रत्येक बात की देख-रेख रखते। जब मैं कहता—‘बाबू जी, आप स्वयं न करें, इतने नौकर हैं, उनसे करा दें।’ तब वे सरलता से कहते—‘सरकार, यह हमारा सौभाग्य है। पटना में ऐसे अवसर कहाँ मिलते हैं?’ वे बड़े भगवत्-भक्त थे, निरभिमानता की तो वे मूर्ति थे, सब से आत्मीय जनों की तरह मिलते। जब मैं भूसी छोड़ कर चला गया। तो उन्होंने भी भूसी छोड़ दी। अपने मकान को उन्होंने बेच दिया, जिसे प्रयाग के...माधुरीदास फर्मे के मालिक लाला पुरुषोत्तमदासजी ने खरीद कर संकीर्तन ब्रह्मचर्याश्रम को दे दिया। जब मैं बद्रीनाथ था, तब मुझे पता लगा कि स्पीकर साहब ने अपना मकान बेच दिया। गत वर्ष मुजफ्फरनगर संकीर्तन-सम्मेलन में वे मुझे मिले थे। कुछ अस्वस्थ थे, मेरी उनकी यही अंतिम भेंट थी। उन्होंने गद्गद् कंठ से कहा—‘सरकार मैंने उस मकान को सीता राम सीता राम कहकर बनवाया था, यदि मैं उस मकान में सरकार को नाचते हुए देखूँ तो मेरा हृदय प्रफुल्लित हो मेरा परिश्रम सार्थक हो।’ आज कल मैं उसी मकान में रह कर नाचता हूँ, किन्तु हाय ! मेरे बाबू जी अब मेरे नाच को स्थूल देह से देखने नहीं आते। उनके साथ रहने से हमें कितना सहारा था, हमारा कितना गौरव था। वे इतने गंभीर और प्रभाव-शाली थे कि बड़े बड़े गवर्नर उनके सामने काँपते थे। वे एक प्रांत की एसेम्बली के प्रधान थे, किन्तु जब उन्हें कोई यहाँ कुरता पहिने लाठी लिये देखता तो समझता साधारण

आदमी हैं। जब मैं अभी इन्हीं जाड़ों में मदरास में नटेशजी के घर था, तब उनका मुझे अंतिम पत्र वहीं मिला। तभी पत्रों में प्रकाशित हुआ कि वे चल बसे। कैसा मैं हतभागी हूँ, कितने और चले गये, मैं ही इस प्रेमशून्य भगवत-विहीन जीवन को बिताने को बना हूँ।

इच्छा तो ऐसी है कि अब माधवजी अपने चरणों की शरण में ही रखें। अब बहुत न घुमावें। अब कोई स्थान से जाने को कहेगा ऐसी किसी दूसरे से शंका भी नहीं। दूसरे से न भी हो, अब एक शंका अपने आपसे होने लगी है। कहीं इस स्थान में ममत्व करके मठाधीश बनने की लालसा तो न उत्पन्न हो जायगी? इसके लिये क्या करूँ, कहीं तो रहना ही है।

यद्यपि इसे मैंने बनवाया नहीं है, जमीन सरकारी है, भाड़े पर ली गई है, किसी ने बनाया किसी ने खरीदा किसी के नाम है। फिर भी यह पापी मन इसमें अपनापन कर बैठे तो इससे बढ़कर नीच कौन होगा। जड़ भरत जी ने चैतन्य हिरन से मोह किया तो वे हिरन तो बने। यदि मैं इन ईंट-पत्थरों में अपनापन कर बैठूँ तो अंत में पत्थर ही बनना होगा। यह बिना प्रसंग के 'गंगा की गैल में महार के गीत' इसलिए गा दिये, अपने मन की बात इसलिए बता दी कि मीरा के पाठक सब सहृदय होंगे, उनके हृदय में इस साधन-हीन दीन के प्रति यदि कुछ ममत्व, अपनापन हो जाय, दया के भाव उत्पन्न हो जाय तो संभव है, इसका भी बेड़ा पार हो जाय।

[ल]

अन्त में ब्रजवासियों के शब्दों में, उन मीरा के गिरिधर लाल के चरणों में हम यही प्रार्थना करके इस प्रसङ्ग को समाप्त करते हैं—

मनसो वृत्तयो न स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायेनीनाम्नां कायस्तत् प्रहृणादिषु ॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मङ्गलाचरितैर्दानै र्गतैः कृष्ण ईश्वरे ॥ ×

पुराण-सभा मण्डप,

भूमी (प्रयाग)

श्रावण—शुक्ला ६।२८०२

× हमारी मन की वृत्तियाँ उन वृजविहारी गिरिधारी नटनागर श्रीकृष्णचन्द्र नन्दनन्दन के पादारविन्दों में सदा लगी रहे । हमारी वाणी सदा उनके ही मङ्गलमय त्रैलोक्यपावन नामों का सदा गान करती रहे । हमारा यह नश्वर देह सदा लोट-पोट होकर उन राधारमण बँकेविहारी को सदा प्रणाम करता रहे । प्रारब्ध कर्मों के अनुसार वे श्रीहरि हमें चाहे जिस जिस योनि में घुमाते रहें । वहाँ वहाँ यदि हम से भूल में कुछ शुभ कर्म बन गया हो, तो उसके बदले यही माँगते हैं कि हमारा मन सदा उन मनमोहन की बाँकी भाँकी में ही लगा रहे ।

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
प्राक्कथन	क—ल
१—बाई मीरा	१
२—वंश-परिचय और जन्म	१३
३—बाल्य-काल	२१
४—गिरिधर लाल	२५
५—विवाह की बातचीत	३१
६—विवाह	३६
७—समुराल में मीरा	४१
८—सम्बन्धियों से बिछोह	४८
९—राणा का कोप	५५
१०—बिष अमृत बन गया	६३
११—विषदूभंजन-गिरिधर लाल	६७
१२—चित्तौड़-त्याग	७३
१३—श्री वृन्दावन में वास	८२
१४—प्रेमार्साक्षिणी	८८
१५—मीराकी गुणमाहात्म्यासक्ति	९३
१६—मीरा की रूपासक्ति	१०२
१७—मीरा की पूजासक्ति	१०६
१८—मीरा की स्मरणासक्ति	११६
१९—मीरा की दास्यासक्ति	१२२

विषय

- २०—मीरा की सख्यासक्ति ...
 २१—मीरा की कान्तासक्ति ...
 २२—मीरा की वात्सल्यासक्ति ...
 २३—मीरा की आत्मानिवेदनासक्ति ...
 २४—मीरा की तन्मयतासक्ति ...
 २५—मीरा की परम विरहासक्ति ...
 २६—अंतिम पटाक्षेप ...
 २७—परिशिष्ट

“श्री हरिः”

मतवाली मीरा

बाई मीरा

न पारयेऽहं तिरवद्यसयुजामं
स्वसाधुकृत्यं विवुधायुषापि वः ।
या माऽभजन् दुजर गेह शृङ्खलाः
संवृच्य तदवः प्रतियातु साधुना ॥*

न विशेष जाड़ा था न गर्मी; शारदीय पूर्णिमा की नीरव
निशा थी, निशा सुन्दरी आज सोलहो शृङ्गारों से सजकर

* रासोत्सव में ब्रज रमणियों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए रासबिहारी श्रीहरि कहते हैं—“हे भामिनियो ! तुमने जो कुछ मेरे साथ सौहार्दपने का बताव किया है, यदि मैं उसका प्रत्युपकार करना चाहूँ तो मनुष्यों के वर्षों से नहीं, देवताओं के अनन्त वर्षों में भी उसका प्रत्युपकार नहीं कर सकता । घर द्वार कुटुम्ब परिवार की मजबूत बेड़ियों को तोड़ना अत्यन्त कठिन है । तुम उन सभी बन्धनों को तोड़कर मुझे सुखी करने यहाँ निःशक होकर आ पहुँची; अतः तुम्हारे सुन्दर स्वभाव से ही इसका प्रत्युपकार हो सकेगा—मैं तो तुम्हारा जन्म-जन्मान्तर में ऋणी ही बना रहूँगा ।”

अपने स्वामी की सेवामें संलग्न थी। प्रकृति स्तब्ध थी। वन-भी हँस रही थी। चारों ओर श्वेत परिधान-पहिने चन्द्रिका छिटक रही थी। कुमुदिनी अपने प्राणनाथ, जीवनाधार, प्राणवल्लभ की छटा पर मुग्ध थी। पक्षी शान्त थे, गौयें बैठी-बैठी भूपकियाँ ले रही थीं। बछड़े सो गये थे। गोपिकाओं ने गृहकार्य प्रायः समाप्त कर दिये थे। कोई जल्दी-जल्दी बर्तनों को मल रही थी, तो कोई दही जमाने की मिटिया को धोकर उसमें दूध जमाने का उपक्रम कर रही थी। कोई दूध को कुछ ठंडा होते देख खिड़की में रखे हुए पथरी के जामन को लेने जा रही थी। किसी ने दूध जमाकर रख दिया था और शैया पर पड़े पति को दूध पिलाने का प्रयत्न कर रही थी। बच्चे सो गये थे। माताएं उनकी ओर चित्त लगाये जल्दी-जल्दी कामों को समाप्त करने के लिये लालायित थीं। अभी अर्धरात्रि होने में कुछ कसर थी कि एक मीठी सी सुरीली तान सुनाई दी। बस, चारों ओर बेचैनी। जिधर देखो, उधर घबड़ाहट। कोई कहती है, 'अरे, यह तो हमारे प्राणों को बलात्कार खींच रही है।' किसी ने कहा—'अब जीना कठिन है।' कोई बोली—'बैरिन वाँसुरी बजी तो थी, किन्तु, अब तो बन्द होगई।' दूसरी भूली सी, भटकी सी सिड़ी पगली की तरह लटपटाती हुई बानी में नाच-नाच कर गाने लगी—

बजी है बजी है रसखानि बजी
 सुनि कै अब गोपकुमारि न जीहैं।
 न जीहैं कदाचित्त कामिनी कोऊ
 जो कान परी वह तान अजी है॥

अजी है बचाव को कौन उपाय
लियान पै मैं न ने सैन सजी है ।
सजी है तो मेरो कहा वश है
जब वरिन बांसुरी फेर बजी है ।

सचमुच वह वाँसुरी रुक-रुक कर बज रही थी और उन ब्रज-वालाओं के प्राणों का आकर्षण कर रही थी । वे अपने को अब सम्हाल न सकीं और धीरे से, चुपके से, आँख बचा कर एक दूसरे को कुछ भी न बताकर चल पड़ीं । उन्हें पथ का ज्ञान नहीं था, दिशाओं का पता नहीं था । शरीर की भी सुध नहीं थी कि वे किधर जा रही हैं—उस मीठी तान के सहारे-सहारे वे चल पड़ीं । जैसे ढालू जमीन में पानी अपने आप ही बहने लगता है और सभी सरितायें अपने स्वामी के ही पास पहुँच जाती हैं, उसी तरह वे रमणियाँ वृन्दावन विहारी के समीप पहुँच गईं । वह एक कदम के वृत्ता के सहारे खड़ा था और अरुण अधरों पर वह मन-मोहनी मुरलीका रखी थी । बराबर फूँक लगाने के कारण भौंहें कुछ तनी थीं । ललित त्रिभङ्गी चाल से वह छलिया-विहारी खड़ा था । गन्तव्य स्थान पर पहुँच कर वे प्रेमोन्मादिनी प्रमदायें खड़ी हो गईं । हँसकर मोहन ने पूँछा—“क्यों आई हो इस उजियाली रात्रि में ?”

काँपते हुए स्वर में गोपियों ने कहा—“दया करो मोहन कटे पर नमक मत छिड़को । स्ववश नहीं हैं । परवश होकर खिंची चली आई हैं । हम जायँ भी तो कहाँ जाँय । तुम्हारे सिवाय जाने का कोई अन्य मार्ग भी तो नहीं ।”

उत्तर सुन कर वे मुरलीधर मुसकराये । गोपियों ने मुँह माँगी वस्तु पाई । वे सुखी हुई । उनकी इच्छाएँ पूरी हुई । उन्होंने

प्रेमोल्हाद के साथ आत्मसमर्पण किया। वम ! फिर क्या था। चिरकाल की उनकी कठोर साधना का फल देने के लिये वे अच्युत-प्रभु उद्यत हुए। वे योगेश्वरों के भी ईश्वर—मनमोहन उन्हें धन्य बनाने के लिये, प्रेम का सच्चा स्वरूप जताने के लिये मंडल बाँध कर खड़े हुए। प्रत्येक ब्रजवाला के बीज में वे सर्वेश्वर अन्तर्यामी, प्रभु उपस्थित थे। किसी ने भी उन्हें अपने से पृथक् नहीं पाया। सभी ने उनकी मंजुल मृणाल-समान भुजलता को अपने कमनीय कंठों में अनुभव किया।

उस समय प्रकृति स्तम्भित थी। चेतन जड़ हो गये थे। चंचल चाँदनी शान्त थी। यमुना का प्रवाह रुक गया था। चन्द्रमा चलना भूल गए, वे जड़वत स्तब्ध हो गये। वायु ने अपनी स्वाभाविक गति छोड़ दी। अहा ! उस समय के रास-मण्डल की शोभा कैसी अलौकिक होगी—

मण्डल रास विलास महारस मण्डल श्री वृषभानु तुलारी ।
 पण्डित कोक सङ्गीत भरी गुण कोटिन राजत गोपकुमारी ॥
 प्रीतम के भुजदण्ड में शोभित सङ्ग में अङ्ग अनङ्गनबारी ।
 तान तरङ्गन रङ्ग बढ़थो ऐसे राधिका माधव की बलिहारी ॥

वहाँ बलिहारी देने वाला ही कौन था। गोपिकायें कृष्ण-मय और कृष्ण गोपिकामय थे। चन्द्रमा जड़ हो गये थे। एक रात्रि की जगह १८० रातें बीत गईं। ६ महीने की वह शारदीय रात्रि हो गई, किसी को पता ही न था। वह एकान्त विहार था। उसमें प्रेमी और प्रेमपात्र के सिवाय किसी अन्य की पहुँच भी नहीं थी। वह स्वसंवेद्य सुख था, अवर्णनातीत था, मन बुद्धि और इन्द्रियों के परे का आनन्द था।

रागिनी समय-समय की होती है, “समय एव करोति-

वलावलं प्राणिगदन्त इतीव शरीरिणा” यह एक अटल सिद्धांत है। वह दिव्य प्रेम की परिस्थिति सदा एक सी नहीं रही। प्रेम का स्वभाव ही है—“प्रतिक्षणं वर्धमानम्” वह क्षण-क्षण पर बढ़ता ही जाता है। उसमें कमी की संभावना नहीं। बढ़ते बढ़ते प्रेम “विरह” के रूप में परिणित हुआ। उसमें उन्माद अपरमार, कृशता मलिनांगता प्रलाप आदि ने अपना आसन जमा लिया। इधर गोपिकाओं का सम्पूर्ण समय “माधव माधव” कहते बीतता, उधर माधव के मन में ब्रज-बालाओं की कसक बनी रहती। वे उनके वियोग में दुखी थे, लम्बी-लम्बी साँसें खाँचते रहते थे। किन्तु अपनी पीर को कहीं किससे ? वह व्यथा तो अपनी निजी थी। उसे कोई क्या समझता ? समझने की बात ही नहीं थी, कहीं भी तो किससे कहें।

उद्धव से कुछ प्रभु की प्रकृति मिलती थी। वे अपने अन्तरंग सखा थे। एकान्त भक्त थे। सदा उनके शयनागार में प्रिना रोक-टोक आया जाया करते थे। उन्होंने यदुनन्दन को अनेकों बार लम्बी २ साँसें लेते देखा था। एक दिन वे गरम-गरम स्वाँस छोड़ रहे थे और राधे-राधे रट रहे थे। हाथ जोड़े हुए उद्धव ने पूछा—‘प्रभो ! अपनी मानसिक पीड़ा का कुछ हाल मुझे भी बतलाइये। इतनी विकलता किस लिये ? नाथ ! ऐसी चिंता ऐसे उद्वेग किस कारण से हैं ?’

मानो किसी ने पके फोड़े पर हल्की सी चोट मार दी हो। मनमोहन के दोनों नयन साँवन-भादों की सरिता के भाँति बह चले। उनका कण्ठ रुक गया, हिचकियाँ बँध गईं, कुछ कह न सके। अंचल से मुख ढाँक कर सिसकने लगे। सुहृदय उद्धव ने श्री चरणों को पकड़ लिया और धीरे-धीरे सुहराते हुए बोले—

“प्रभो ! मैं आपका एकान्त भक्त हूँ, सब कुछ करने के लिये उद्यत हूँ। मुझे आज्ञा दीजिये। बात क्या है, जिस प्रकार स्वामी को सुख मिलेगा, करने को तैयार हूँ। यह शरीर ही सरकार की सेवा के लिये है।” उद्धव के ऐसे वचनों का सुन कर आँखें पोंछते हुए भरीई आवाज में प्रभु बोले—

मयि ता प्रेयसी प्रेष्ठे द्रस्थे गोकुलस्थिः ।

स्मरन्त्योङ्गविमुह्यन्ति विरहोत्कण्ठय विह्वलाः ॥

भैया उद्धव ! मुझे उन गोकुल की भोली-भाली ग्वालिनियों का सोच अत्यन्त पीड़ा दे रहा है। वे मुझे प्राणों से भी अधिक प्यार करती थीं, अत्यन्त प्रिय पदार्थों से भी प्रिय मुझे मानती थीं। अब मैं उनसे दूर हूँ, अतः वे मेरे विरह में तड़पता होंगी। मेरे वियोग में विह्वल होकर विमोहित हाँता होंगी उनका दुःख ही मुझे दुखी कर रहा है। अहा ! वे मेरे बिना प्राणों को कैसे धारण करती होंगी। उद्धव ! वे ही मुझे व्यथित कर रही हैं। वे ही अपनी अनन्य स्मृति द्वारा मुझे अपनी ओर वेग से खींच रही हैं। मेरे प्राण उन्हीं के लिये छटपटा रहे हैं; हृदय उन्हीं के लिये रो रहा है, कलेजा उन्हीं के लिये विकल हो रहा है।

अत्यन्त ही आश्चर्य के साथ उद्धव ने कहा—“प्रभो ! यह आप कैसी प्राकृतिक पुरुषों की सी बातें कर रहे हैं। भला, आप कभी किसी से दाण भर के लिये भी अलग हो सकते हैं ? घट-घट व्यापी अन्तर्यामी स्वामिन् ! आप तो प्राणों के भी प्राण हैं, जीवन को भी जीवनदान दाता हैं। आप सदा सर्वदा सर्वत्र सभी समय सभी के समीप हैं, पास हैं, निकट हैं, फिर आपसे गोपियों का विरह कैसा ?”

महत्वपूर्ण स्वर में भगवान् ने कहा—‘उद्धव ! तुम बड़ी सुन्दर और त्रिकाल सत्य बात कह रहे हो; किन्तु वे गाँव की गँवार गोपिकाएँ इस गूढ़ ज्ञान को तो नहीं समझती। यदि तुम जाकर मेरी अपेक्षा उन्हें इस बात को समझा सको, तो बड़ा उपकार हो। खिंचाव तो उन्हीं की ओर से है, वे ही मुझे बिकल बनाने को विवश करती हैं; हृदय की तन्त्री में अपनी विरहोच्छ्वास-रूपी मिजराब से वे ही भंकार उत्पन्न करती हैं। इतना मेरा काम करो—इस ज्ञान का उपदेश गोकुल जाकर उन ग्वालिनियों को कर आओ।’

गुरु बनने की लालसा प्रत्येक प्राणी के अन्दर विद्यमान है, क्योंकि आत्मा ‘गुरुणां गुरु’ गुरु का गुरु है। प्रभु की आज्ञा, उपदेशकी का काम, नन्द-यशोदा के दर्शनों की लालसा, इन सभी कारणों से उद्धव चल दिये और गोकुल में आये। सबसे मिले-जुले; किन्तु गोपियों का सन्देश एकांत में कहने का था। प्रेमियों की बातें प्रेमियों के बीच ही सीमित रहती हैं। इतना दुःख था, ऐसी वेदना थी, किन्तु गोपियों ने किसी से उसकी चर्चा तक नहीं की। करने से लाभ ही क्या ? ‘सुनि इठिलहियें लोग सब, बाँट न लहियें कोइ’ इसी से गोपी अपने विरह भार को स्वयं ही ढो रही थीं। उद्धव ने वही अपना रटा-रटाया ज्ञान कह सुनाया और बताया, ‘यही उन सर्वान्तर्यामी का आपके लिये उपदेश है। आप उन्हें घट-घट वासी समझ कर अपने आपे में ही उनका अनुभव करें।’

गोपियों ने समझ लिया श्यामसुन्दर ने इसे अपना एकांत-सखा समझ कर रहस्य की बातें बता दी हैं। जब उन्होंने ही इसके सामने प्रकट कर दिया है, तो हम अब क्यों छिपावें। वे उदास होकर कहने लगीं—‘ऊधो जी ! बातें आपकी ठीक ही

होंगी। आप ज्ञानी हैं, पण्डित हैं, शास्त्रज्ञ हैं, आप मिथ्या बात थोड़े ही कहेंगे। किन्तु हम ऐसी मन्द बुद्धि मूर्खा अबला हैं कि यह ज्ञान हमारे हृदय में घँसता नहीं। हमें तो बार-बार श्याम-सुन्दर की वही साँवरी सलोनी माधुरी मूरति याद आती है, जिसने अपने बाहुपाश से हमारे कंठों को कसकर बाँधा था। वह बन्धन अभी तक ढीला थोड़े ही हुआ है। दूर होने से वह और भी अधिक कस गया है। इसी से प्राण व्याकुल हो रहे हैं, नयन निकले पड़ते हैं, दम घुटता-सा जा रहा है। इस बेचैनी में ज्ञान, ध्यान, योग, यज्ञ कुछ भी याद नहीं आता। जब वे स्वयं ही आकर इस बन्धन को ढीला करें तब कहीं कुछ चैन पड़ सकता है, किन्तु हम अभागिनियों का ऐसा सौभाग्य कहाँ। आपका ज्ञान अच्छा होगा, किन्तु वह हमारे काम का नहीं है।'

गोपिकाओं के इस स्पष्ट और दृढ़ उत्तर को सुनकर उद्धव आवाक रह गये। वे उन महाभागा गोपिकाओं की निष्ठा के वेग में बह चले। उन्हें अब किनारे की सुधि-बुधि नहीं रही। हाँ, सचमुच सर्वेश्वर हरि ने इनके कंठों में अपना बाहुपाश डाला है! क्या वे घुँघरू बाँध कर इनके साथ नाचे हैं? क्या उन आत्माराम ने इनके साथ रमण किया है? रासोत्सव में इन भाग्यवती ब्रजबल्लभियों का सौभाग्य क्या पराकाष्ठा पर पहुँच चुका है—क्या लक्ष्मी जी के सौभाग्य को भी इनके सौभाग्य ने तिरस्कृत नहीं कर दिया है! अहा! ये ब्रजवालाएँ धन्य हैं। इनकी निष्ठा ही सच्ची निष्ठा है। हमतो ज्ञानके ही अभिमान में भर गये। हमें तो इस शुष्क तर्क ने ही नीरस बना दिया, इस मस्तिष्क के पीछे ही पड़े रहने से हम उस अनिवेचनीय सुख से वंचित रहे। अहा! इस ब्रज में हम भी क्यों न

हुए । मनुष्य न होते, पशु पक्षी योग्य भी हमारा भाग्य न होता तो किसी काँटेदार वृक्ष की ही योनि मिल जाती । ऐसा सोचते-सोचते उद्धव मूर्छित हो गये और उस मूर्छा में ही रोते रोते गुनगुनाने लगे—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम् ।

वृन्दावने किमपिगुल्मलतौषधीनाम् ॥

‘इस रसमय श्रीवन की किसी कुञ्ज की कटीली झाड़ी के नीचे यदि मेरा जन्म घास में पेड़-पत्ते के भी रूप में होता, तो यह जीवन सार्थक बन जाता । इसलिये नहीं कि उस योनि में से उस अनिवेचनीय रास-क्रोड़ा के दर्शने कर पाता, जब शुक, सनकादि नारद तक स्तम्भित हो गये तो वृक्षों की तो शक्ति ही क्या ? किन्तु उन प्रियतम परायणा परमाराध्या ब्रजबालाओं के पाद पद्मों की पराग उड़ कर मेरे पत्तों पर पड़ती तो वृक्ष योनि में जन्म लेना तो सार्थक हो जाता ।’ ये उद्गार उन महाभागवत उद्धव के हैं जो भगवान के परम प्रीति-भाजन एकान्त-सखा और परम ज्ञानी कहलाते हैं । इसी से पाठक गोपिकाओं के अनुराग का अनुमान लगा सकते हैं, तभी तो भक्ति सिद्धान्ताचार्य भगवान नारद जी ने अपने भक्ति में कहा है —“साकस्मै परम प्रेम रूपा यथा ब्रज गोपिकानाम्” उन अन्तर्यामी के प्रति परोक्ष होना ही भक्ति है, इसका सर्वोत्कृष्ट उदाहरण ब्रज की गोपिकायें ही हैं इसीलिये उद्धव कहते हैं—

बन्दे नन्दब्रजस्तीनां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।

यासां हरिकयोद्गीत पुनाति भुवनत्रम् ॥

उन ब्रजरमणियों की चरण धूलिका को मैं पुनः पुनः

प्रणाम करता हूँ जिनकी प्रभु प्रेम सम्बन्धी कथाओं से यह त्रैलोक्य पावन बनता है। अहा ! उन भाग्यवती ब्रजबालाओं का प्रेम कितना उत्कृष्ट होगा ? इसको अनुभूति तो अलग की बात है, उसका समझना भी अत्यन्त ही दुष्कर है, बड़ा ही कठिन है।

प्रेम की परिपक्वावस्था का ही नाम विरह है। भगवान् क्या कभी गोपिकाओं से पृथक रह सकते हैं ? क्या धवलता को निकाल देने पर दुग्ध का अस्तित्व रह सकता है ? क्या उष्णता को पृथक कर देने पर कोई उसे अग्नि कह सकता है ? मथुरा तो बहुत दूर है, वृन्दावन बिहारी रसिक तो उन गोपिकाओं के वृन्दावन को छोड़ कर एक पैर भी आगे नहीं जाते। रास कुछ एक ही दिन में तो समाप्त हो नहीं गया। वह तो नित्य की वस्तु है। सर्वदा का व्यापार है। सब कोई तो उसे समझ नहीं सकते, फिर अनुभव करना तो किसी भाग्यशाली के ही भाग्य में बदा है। उसे देखने वाला तो वही है, उसी का प्रतिबिम्ब है; उसके लिये तो कहें ही क्या ?

उस अलौकिक अनिर्वचनीय प्रेम का स्मरण करके एक दिन श्रीजी बड़ी ही अधीर हो उठीं। जगन्माता के मन में लोककल्याण के निमित्त एक भाव प्रस्फुटित हुआ। कलिकाल प्राणी सामर्थ्यहीन, श्रद्धाहीन, विचारहीन और प्रेमशून्य होंगे। इन रहस्य की बातों को वे केवल कवि की कल्पना ही समझेंगे। मर्त्यलोक में भला ऐसा दिव्य प्रेम किस प्रकार प्राप्त हो सकता है, इस पर सहसा कोई विश्वास न करेंगे। यदि इस प्रेम पर से विश्वास उठ गया, तो यह जगत् आनन्द-शून्य और सुख से हीन हो जायगा। अतः पृथ्वी पर इस प्रेम को प्रकट करना चाहिये। जिससे ये अशांति के पिंजड़े में फँसे हुए प्राणी उसे

प्रत्यक्ष देख सकें और उसका अनुसरण और अनुकरण कर सकें ।'

बस, फिर क्या था । श्रीजी के संकल्प-मात्र से ही यह सम्पूर्ण दृष्टि पलक मारते ही उत्पन्न हो जाती है । अपने निकट में खड़ी हुई अपनी एक अत्यन्त ही प्रिय सखी को श्री जी ने आज्ञा दी —

—‘प्यारी सखी ! तुम्हें एक काम करना होगा ?’

—‘श्री जी की आज्ञा होने पर मैं कठिन से कठिन भी काम कर सकूँगी ।’

—‘नहीं, प्यारी यह तुम्हारे लिये अत्यन्त कठिन होगा । तुम्हें नीचे उतरना होगा । मर्त्यलोक के सामने दिव्य प्रेम का आदर्श रखना होगा । बस, थोड़े ही दिन मर्त्यलोक में रह कर फिर हमारे मंडल में तुम आ जाना !’ प्रेम से हाथ थामे हुए श्री जी ने कहा ।

नीचा सिर किये हुए उस परम प्रिय प्रधान सखी ने कहा—‘श्री जी की सभी आज्ञायेँ मुझे स्वीकार हैं, किन्तु मेरी एक भिन्ना है ।’

‘वह क्या ?’ अत्यन्त ही स्नेहस्निग्ध वाक्यों से श्री जी ने पूछा ।

लजाते हुए सखी ने कहा—यही कि मर्त्यलोक में भी श्यामसुन्दर ही मेरे प्राण आधार पति बनें, वे ही मुझे प्रत्यक्ष रूप से अपनावें । तब तो मैं इस आज्ञा को सहष स्वीकार करूँगी, नहीं तो आज्ञा पालन तो सभी दशाओं में करनी ही पड़ेगी ।’

श्री जी मुस्कराई, हँसी और बोलीं—‘बहुत माँग लिया, किन्तु मैं तुम्हें यह वर दिलाऊँगी, तुम्हें लोक-कल्याण के लिए यह कार्य करना ही होगा ।’

महारास के समय श्री जो ने रासबिहारी श्यामसुन्दर के सम्मुख यह प्रस्ताव रक्खा । सखी संकोच से नीचा सिर किये खड़ी थी । श्री जी की सम्मति, समर्थन, अनुमोदन सभी थे । बाँकेबिहारी ने श्री जी की आज्ञा वहाल की और सखी का हाथ थाम कर प्रेम से वरदान दिया 'एवमस्तु' ऐसा ही होगा । हम पति रूप से तुम्हें मर्त्यलोक में वरण करेंगे । सखी प्रसन्न हुई, श्री जी का संकल्प पूरा हुआ । वही सखी वीरभूमि राज-पूताने में आकर प्रकट हुई, जिनका नाम हुआ मीरा बाई ।

मीरा-बाई जगत में मातृरूप में या पत्नी-रूप में अवतरित नहीं हुई थीं । उन्होंने जगत को अपना भाई माना और उनका सभी प्राणियों से सदा एक ही नाता रहा । उनकी दृष्टि में सभी प्राणी उनके सहोदर भाई ही थे । जैसे श्रीगङ्गाजी हमारी भी माता हैं, हमारे पिता की भी माता हैं, पितामह प्रपितामह भी की वे माता ही हैं; दादी किसी की नहीं । इसी प्रकार मीरा सभी की बहिन हैं, वे जगत भगिनी के रूप में अवतरित हुई थीं । इसी से वे बाई (बहिन) मीरा कही गईं । बस एक श्यामसुन्दर से तो उनका दूसरा सम्बन्ध था । क्योंकि वे इसी वरदान के आधार पर ही तो अवनि पर अवतीर्ण हुई थीं । उन्होंने स्वयं गाया है—

मेहा बरसवो करेरे ।

आज तो रमियो मेरे घर रे ॥

नान्ही नान्ही बूंद मेघ धन बरसे, सूखे सरवर भरे रे ॥१॥

बहुत दिना पै प्रीतम पायो, बिछुरन को मोहि डर रे ॥२॥

मीरा कहे अति नेह जुड़यो, मैं लियो पुरबलो वर रे ॥३॥

वंश परिचय और जन्म

आस्फोटिन्त पितरो नृत्यन्ति च पितामहाः ।

मद्वंशे वैष्णवो जातः स नसाता भविष्यति ॥ॐ॥

जीवनके असली माने हैं 'मृत्यु की कभी परवाह न करना' जिन्होंने इस नश्वर शरीर के ही पालन-पोषण और स्थाई बनाने में भाँति-भाँति के प्रयत्न किये हैं काल ने उनको भी नहीं छोड़ा है और जो सदा मृत्युके मुखमें घुसते रहे हैं, शरीर की जिन्होंने कभी परवाह ही नहीं की है, वे वीर भी मृत्यु के सिर पर पैर रख कर परलोकगामी हुए हैं। दोनों का ही शरीर अब पृथ्वी पर नहीं है, किन्तु शरीर के लालन पालन में ही प्रयत्न करने वाले करोड़ों अरबों असंख्यों पुरुषों के कोई नाम तक नहीं जानता। किन्तु जो स्वेच्छापूर्वक मृत्युसे लड़ते रहे हैं, उनकी कीर्ति अभी तक संसार में अजर-अमर है और तब तक रहेगी, जब तक कि ये पृथ्वी, तारे, सूर्य, चन्द्रमा और समुद्र विद्यमान हैं। वे मरकर भी अभी जीवित हैं, क्योंकि 'कीर्तिर्यस्य सजीवति' जिसकी कीर्ति विद्यमान है, उसे मरा कहने वाला स्वयं मुरदा है। मुरदे की बात का भला विश्वास ही क्या ?

*जब पतरों को पता चलता कि हमारे वंश में कोई वैष्णव उत्पन्न हुआ न, तो वे मारे खुशी के नाचने-कूदने और ताल ठोकने लगते हैं कि अवश्य ही यह हमारा उद्धार करेगा, क्योंकि एक वैष्णव अपनी २१ पीढ़ियों को तार देता है।

धन्य हैं वे क्षत्रिय जो अपनी वीरता के कारण अभी तक जीवित हैं। क्षत्रिय धर्म कितना कठोर है ? इसमें कितना तेज है कैसा गौरव है, कितना महान् है ? इसमें न प्राणों की परवाह, न परिजनों की चिन्ता। बस, 'कार्य वा साधयामि शरीरं वा पातयामि' यही क्षत्रियों का मूल मंत्र रहा है। युद्ध उनके लिये उतनी ही प्यारी चीज है, जितनी कि बच्चों के लिये सुन्दर २ मिठाई। जैसे बच्चे मिठाई का नाम सुनते ही हर्ष से उछलने लगते हैं, उसी तरह युद्ध का प्रसङ्ग आते ही क्षत्रिय वीरों का कलेजा बाँसो उछलने लगता था। उस समय वे धन, मन को, राज्य सिंहासन को, प्यारी पत्नी को, दुधमुँहे बच्चों की, शरीर सुख की यहाँ तक कि प्राणों की भी कुछ परवाह नहीं करते थे।

पाठक तनिक कल्पना तो करें। टोंकटोड़ा के सोलंकी राव सुरतान का राज्य एक पठान ने जीत लिया। वह विचारा राज्य भ्रष्ट होकर अपनी पुत्री ताराबाई को साथ लेकर चित्तौड़ राज्य की क्षत्रछाया में अपनी विपत्ति के दिन काटने लगा। ताराबाई अद्वितीय रूप लावण्ययुक्त ललना थी। वह जितनी ही अधिक अनुपमेय सुन्दरी थी, उतनी ही अधिक पराक्रमशालिनी भी थी। उसके रूप सौन्दर्य और गुणों की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई। अनेकों राजकुमार उस ललना रत्न के लेने के लिये लाला-यित थे। अनेकों ने उसके पिता से प्रार्थना की, उसने स्वीकार नहीं किया। चित्तौड़ की गद्दी के उत्तराधिकारी राजकुमार जयमल तो उसके लिये अधीर हो उठा। उसके प्रस्ताव को भी राव सुरतान ने नामंजूर कर दिया। तब उसने कुमारी ताराबाई को पत्र लिखा। उस वीर राजकुमारीने साफ़ कह दिया मैं उसके साथ विवाह करूँगी, जो मेरे पिता के राज्य को उस पठान से छीन कर मेरे पिता को दे दे। जयमल ने इसे स्वीकार किया, किन्तु

वह तो कामान्ध हो रहा था, उसने सम्बन्ध होने के पहिले ही ताराबाई से भेंट करनी चाही। यह उस राजपूत के लिए घोर अपमान की बात थी। ज्यों ही जयमल मिलने गया कि उस क्षत्रिय पिता ने उस राजकुमारी का सिर धड़ से अलग कर दिया। क्षत्रिय जानता था कि जिनके राज्य में मुझे शरण मिली है, वे महाराणा रायमल एक परम-प्रतिष्ठित शक्ति-सम्पन्न सम्राट हैं, किन्तु प्रतिष्ठा के सामने किसी की क्या परवाह। महाराणा ने भी जब यह बात सुनी तो वे प्रसन्न ही हुए। तभी उनके द्वितीय पुत्र पृथ्वीराज ने ताराबाई के प्रस्ताव को स्वीकार किया। ताराबाई का विवाह पृथ्वीराज से हो गया। विवाह होते ही वह वीर उस शक्तिशाली पठान को जीतने चल पड़ा। साथ में वीर वेष धारिणी ताराबाई भी थी। भयङ्कर युद्ध हुआ। विजय ने भी पृथ्वीराज को ही वरण किया। ताराबाई के पिता का राज्य मिल गया। तब वे दम्पति आपस में मिले।

सोचिये तो भला कितना भारी त्याग है, कितना जबरदस्त आदर्श है। लड़ने चल रहे हैं, तो क्या पता जीते लौटेंगे या नहीं। जिस ललाम-ललना के लिये लाखों राजकुमार ललचाते थे, उसे प्राप्त करके भी वे हँसते-हँसते युद्ध के लिये चले गये और साथ में वह सुन्दरी भी थी। एक नहीं वैसे हजारों लाखों सच्चे प्रमाण उस भारत-भूमि के क्षत्रियों के विशेष कर वीर भूमि मेवाड़ के इतिहास में मिलेंगे जहाँ की सुकुमार रमणियाँ हँसते-हँसते चिताओं पर चढ़ गईं। जिस पद्मिनी के लिये मुगल सम्राट ने लाखों आदमियों की बलि दी, वह अन्त में अपने सतीत्व की रक्षा के लिये प्रसन्नता पूर्वक अग्नि में विलीन हो गईं। तभी तो वीर क्षत्रिय की गति परिव्राजक योगी के समान

बताई गई है। अत्यन्त ही दुःख की बात है कि जिस भारत-भूमि पर ऐसे करोड़ों क्षत्रिय थे, वहाँ आज एक भी ऐसा क्षत्रिय नहीं, जो धर्म के लिये सब कुछ कर सके। यदि कोई है तो उसके चरणों में हमारा प्रणाम है।

मेवाड़ और मारवाड़ इन दोनों राज्यों का सम्बन्ध बहुत पुराना चला आता है। मेवाड़ के बहुत से महाराज अपनी शूरवीरता के लिए संसार में प्रसिद्ध हैं, उनमें से एक राणा लाखा भी हैं। महाराणा लाखा के सब से बड़े पुत्र चूड़ावत जी ही राज्य के अधिकारी थे, उनसे अपनी बहिन का सम्बन्ध करने के लिए मारवाड़ के राव रणमल जी ने अपने पुरोहित को भेजा। युवराज वहाँ थे नहीं। हँसी में महाराणा लाखा ने कह दिया इस सफेद दाढ़ी पर अब कौन टांका चढ़ावेगा। बस, इसी पर चूड़ावत अड़ गये कि यह लड़की तो मेरी माता हो चुकी। सभी ने समझाया, महाराणा ने भाँति-भाँति से ऊँची-नीची सुझाई। वीर क्षत्रिय अपने सिद्धान्त पर अड़ गया। विवश हो कर महाराणा ने कहा—“तब राज्य का अधिकारी भी इस लड़की का ही लड़का होगा, तुम्हें राज्य न मिलेगा।” चूड़ा ने इसे सहर्ष स्वीकार किया। राव को लड़की का विवाह बूढ़े राणा के साथ हो गया, उसके गर्भ से कुमार मोकल का जन्म हुआ। मोकल ५ वर्ष का ही था कि राणा चल बसे। चूड़ावत की सहायता से मोकल मेवाड़ का राज्य करने लगे। राव रणमल आदि के बहकाने से राजमाता ने चूड़ावत पर संदेह किया, वे तुरत ही राज्य छोड़कर चले गये। इधर राणा मोकल की हत्या उनके दो चाचाओं ने कर दी और उनमें से एक राणा बन बैठा। इस पर मारवाड़ के राव रणमल जी ने उन दोनों को मार कर चित्तौड़ की गद्दी पर राणा मोकल के पुत्र महाराणा कुम्भा जी

बैठे। कुम्भा जी अभी बालक ही थे अतः राव रणमल ही राज-माता की आज्ञा से राज-काज करते थे। उनकी नियत खराब हो गई और वे चित्तौड़ पर अपना कब्जा करने लगे। राज-माता ने भाई की इस कुटिलता की सूचना चूड़ा जी को दी और उनकी सहायता चाही। चूड़ा जी ने आकर रणमल जी के आदिमियों को हराया और स्वयं राव रणमल भी अपने पाप के कारण मारे गये। उनके पुत्र राव जोधा जी छिप कर भाग गये। मारवाड़ राज्य के ऊपर भी चित्तौड़ के राणा का भंडा फहराने लगा और वहाँ का सभी प्रबन्ध मेवाड़ के क्षत्रिय करने लगे।

जोधा जी वीर क्षत्रिय थे। उन्होंने कई बार अपने पैतृक राज्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे असफल रहे और असहाय होकर जंगलों में मारे-मारे फिरने लगे। चित्तौड़ की राजमाता ने जब यह समाचार सुना, उन्होंने कुम्भा जी से कहा—“बेटा, कैसा भी हो जोधा मेरे भाई का लड़का है। वह मारा-मारा फिरता है, उसे कहीं आश्रय दो।” राजमाता की सिफारिश से कुम्भा जी ने स्वीकार किया, “अबकी वह चढ़ाई करेगा तो हम सामाना करेंगे।” राजमाता ने यह सन्देश जोधा जी के पास भेज दिया। जोधा जी ने चढ़ाई की और उन्होंने अपना पैतृक राज्य फिर से प्राप्त कर लिया।

राव जोधा जी बड़े पराक्रमी थे। उनके जमाने में मंडोर (मारवाड़) की खूब उन्नति हुई। अपने ही नाम से उन्होंने जोधपुर नगर बसाया और वे सुख से राज्य करने लगे।

उनके चार पुत्रों में से सब से छोटे पुत्र रावदूदा जी हुए। राजाओं के यहाँ नियम है कि चाहे कितने ही पुत्र हों, राज्य का अधिकार तो सब से बड़े पुत्र को ही होगा, शेष पुत्रों को निर्वाह करने के लिये कुछ गाँव मिल जायँगे। इसी नियमानुसार दूदा

जी को कुछ गाँव मिलने चाहिये थे, किन्तु वे तो अपने को स्वाधीन राज्यसिंहासन पर देखना चाहते थे, अतः उन्होंने अपने बाहुबल से एक स्वतंत्र राज्य की स्थापना की और मेड़ता को अपनी राजधानी बना कर वहाँ अपना राज्य करने लगे । जैसे चित्तौड़ के राजवंश के शिशोदिया कहाते हैं वैसे ही मारवाड़ के राजपूत राठौर के नाम से प्रसिद्ध हैं । दूदा जी राठौर ही थे, किन्तु मेड़ता को अपनी राजधानी बनाने के कारण इनके वंशज अपने को मेड़तिया या मेड़तणा कहने लगे ।

राव दूदा के चार पुत्र थे । सब से बड़े रावदेव थे और सबसे छोटे श्रीरतनसिंह जी थे । इन्हीं स्वंनाम धन्य राठौर तनसिंह जी को मीराबाई के पिता होते का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था । लोग पुत्र की कामना इसलिये करते हैं कि हमारा नाम बना रहे, वंश चले । यद्यपि श्रीरतनसिंह जी के कोई पुत्र नहीं था, किन्तु उन भाग्यशाली राजपूत का अपनी सौभाग्यशालिनी सदा सुहागिन पुत्री के कारण ही नाम अजर अमर होगया । राज्यकुल के नियमानुसार श्री रतनसिंह जी को मेड़ता राज्य की ओर से निर्वाह के लिये कुड़की वाजोली आदि १२ गाँव मिले थे । उन्हीं में से कुड़की गाँव में मीराबाई का जन्म हुआ ।

इनके पिता बड़े लड़ाकू क्षत्रिय थे । उनका अधिकांश समय युद्धों में ही बीतता था । कहते हैं, बाल्यकाल में ही मीरा की जन्मदात्री जननी इस असार संसार को त्याग कर चल बसीं । तब इनके पितामह रावदूदा जी ने कुड़की से इन्हें बुला कर अपने पास मेड़ते में ही रखा । वहाँ इनकी ताई राव वीरमदेव की स्त्री ने इनका लालन पालन किया । मीरा उसे अपनी सगी माता ही मानती थी और उसी तरह का व्यवहार करती थी ।

वीरमदेव और उनकी पत्नी भी इन्हें अपनी सगी पुत्री की ही तरह रखते थे और मीरा की मंगल-कामना के लिये भाँति-भाँति से भगवान से प्रार्थना करते थे। इनके पितामह दूदा जी तथा ताऊ वीरमदेव जी सभी मीरा के सरल स्वभाव के कारण उस पर मोहित थे।



बाल्य-काल

प्रथमे वयसि यः शान्तः सः शान्त इति मे मतिः ।

घातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते ॥*

कहावत है “होनहार विरवान के होत चीकने पात” । सचमुच में जितने भी भक्त महापुरुष तथा अलौकिक गुणवाले मनुष्य हुए हैं, उनकी प्रतिभा बाल्य-काल से ही विलक्षण रही है । सभी गुण जन्म-जन्मान्तरों के सस्कारों से ही प्राप्त होते हैं । भगवत् प्रेम तो बिना अनंत जन्मों के पुण्य, प्रताप और अभ्यास के प्राप्त हो ही नहीं सकता । भगवान् स्वयं कहते हैं—“बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते” “अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परांगतिम्” । बहुत से जन्मों के अनंतर ज्ञानी मुझे प्राप्त कर सकते हैं, अनेक जन्मों में अभ्यास करते-करते जब वह अभ्यास अन्तिम जन्म में परिपक्व हो जाता है, तो जीव आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाता है ।

यह तो उन मुमुक्षु जीवों के लिये है, जो अभ्यास वैराग्यादि साधनों द्वारा प्रभु को प्राप्त करने के लिये यत्नवान् रहते हैं । किन्तु कुछ नित्यमुक्त जीव भी किसी विशिष्ट प्रयोजन-वश भगवत् प्रेरणा से इस अवनि पर अवतरित होते हैं, उनके पीछे संचित प्रारब्ध आदि कर्म नहीं होते, न उन्हें क्रियमाण कर्मों

*जो पहिली ही अवस्था में-बाल्य-काल में-ही शान्त स्वभाव वाला है, असल में उसे ही यथार्थ शान्त कहना चाहिये । इन्द्रियों के शिथिल हो जाने पर तो सभी अपने आप ही शान्त हो जाते हैं ।

का ही फल भोगना पड़ता है, वे तो लोक-शिक्षा के लिए वैसे ही अवतरित होते हैं और अपने जीवन से शिक्षा देकर फिर अपने सत् स्वरूप में मिल जाते हैं। उनका निरन्तर का काम ही रमण विहारी के साथ रमण करना है, अतः वे अपने अभ्यासानुसार आते ही उसी प्रकार की सभी क्रियाएँ करने लगते हैं। गौ के बच्चे को पैदा होते ही स्तन पिलाना कौन सिखाता है ? उसे यह कौन बताता है कि माता के स्तनों में दूध भरा हुआ है ? पैदा होते ही वह स्तनों को खोजने लगता है और दूध पीने लगता है, क्योंकि वह जन्मान्तरों में अनेक माताओं के दूध को पी चुका है, उसे अनंत जन्मों से दूध पीने का पुराना अभ्यास है। इसीलिये कहा है। 'क्रियते ह्यवशोऽपितृ' मनुष्य अपने स्वभावानुकूल कर्म को अवश होकर भी करता रहता है।

मीराबाई अपने माता-पिता की एक मात्र सन्तान थी। माता-पिता को अपनी सन्तान कितनी प्यारी होती है ? इसे माता-पिता के हृदय के सिवाय दूसरा कोई अनुमान भी नहीं कर सकता। जिसने मातृत्व का अनुभव नहीं किया, वह संतान की ममता को क्या जाने ? कहावत है, 'बाँझ क्या जाने जनने की पीर'। जनने की पीर जिस प्रकार बताकर नहीं समझाई जा सकती उसी प्रकार मातृत्व की ममता पढ़कर, सुनकर समझ में नहीं आ सकती। माता-पिता के लिये संतान हृदय का टुकड़ा है, बाहर घूमने वाले प्राण हैं। बुरी से बुरी सन्तान के मोह को भी माता-पिता नहीं छोड़ सकते।

मीरा बाल्यकाल से ही बड़ी शान्त बालिका थी। वह जितनी ही अधिक सुन्दर थी, उतना ही अधिक उसके मुख-मण्डल पर आकर्षण था। उसका हँसना, तुतलाकर बोलना,

किलकारियाँ मारना, तोतली वाणी से भाई, बापू कहना बड़ा ही भला लगता। माता पुत्री के अपूर्व सौन्दर्य पर मुग्ध थी। वह मीरा के ऊपर बार-बार वृण तोड़ती, उसकी बलैया लेती। बार-बार उसका मुँह चूमती, चुचकारती, पुचकारती और प्यार करती। खिलाते-खिलाते कहती—‘मेरी रानी ! मेरी बच्ची !’ मीरा हँस जाती। माता फिर उसे चूम लेती।

इस प्रकार माता के अनन्त प्रेम, पिता की बड़ी-बड़ी आशाओं के साथ मीरा बढ़ने लगी। अब वह सखियों में खेलने लगी। खेल भी वैसे ही—भगवान की प्रतिमा बनाना, उनकी पूजा करना, भोग लगाना, सभी महेलियों में प्रसाद बाँटना—यही उनका दैनिक खेल था। माता-पिता धार्मिक थे। वे भगवान के मंदिर में जाते तो मीरा भी उनके साथ सदा रहती। माता अपनी लाड़िली लड़ती इकलौती लड़की को कभी भी अपनी दृष्टि से अलग होने देना नहीं चाहती थी। माता जब-जब भगवान के दर्शनों को जाती, तब-तब मीरा भी जाती। यहाँ तक कि माता कभी देर भी करती, तो मीरा उसे याद दिलाती, आग्रह करती, रोने लगती और माता को मन्दिर में चलने के लिये विवश करती। इस प्रकार बाल्यकाल से ही उसकी भगवान के प्रति प्रगाढ़ प्रीति थी। वह भगवान के सामने अपनी सरल और तोतली वाणी में कुछ गुनगुनाया भी करती थी, किन्तु उस गुनगुनाहट का अर्थ और कोई नहीं समझता था, क्योंकि बालक कुछ छंट-मंट बका ही करते हैं, बड़े लोग उधर ध्यान नहीं देते, किन्तु जिन्हें लक्ष्य करके वह गुनगुनाती थी, वे तो उसकी बानों पर खूब ध्यान देते और उसे प्रेम-पूर्वक सुनते। बस, मीरा को उन्हें ही सुनाना था; उसे लोगों को समझाने की इच्छा भी नहीं थी।

इस प्रकार शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा की किरणों के समान वह सर्व-रूप गुणशील-सम्पन्न बालिका धीरे-धीरे बढ़ने लगी। उस अवस्था में गाँव में एक बरात आई। बरात उस बालिका की थी जो मीरा की अत्यन्त ही प्यारी सखी थी और जो उसके साथ खेला करती थी। बालकों का स्वभाव ही होता है, कहीं बाजा बजे, कहीं तमाशा हो तो वे सबसे पहिले देखने के लिए लालायित होंगे। बरात को देखने के लिये मीरा भी अपनी माता के साथ छत पर गई। बड़ी भीड़ थी, आगे-आगे बाजे बजते जाते थे, एक हाथी के हौदे पर सौर बाँधे दूल्हा बैठा था। बाल्य-सुलभ-चंचलतावश मीरा ने अपनी माता से पूछा—‘अम्मा ! यह कौन है और यह सिर पर क्या चमकीला-चमकीला बाँधे है ?’

माता ने कहा—‘बेटी ! यही दूल्हा है, इसी के साथ तेरी सखी का विवाह होगा ?’

मीरा ने पूछा—‘अम्मा ! वह मेरी सखी अब कब यहाँ खेलने मेरे साथ आवेगी ।’

माता ने कहा—‘बेटी, अब वह खेलने न आवेगी, इसी दूल्हा के साथ चली जावेगी ?’

मीरा ने जोर देकर पूछा—‘माँ ! मैं तो उसे बहुत अधिक प्यार करती थी, यह दूल्हा उसे उतना प्यार करेगा क्या ? वहाँ कैसे रहेगी ?’

माता ने कहा—‘हाँ बेटी, यह तुझसे भी ज्यादा प्यार करेगा, फिर भी लौट कर आवेगी, किन्तु फिर चली जायगी। अब उसे वहीं अपनी ससुराल में रहना पड़ेगा ।’

मीरा ने पूछा—‘अम्मा, तो मेरा दूल्हा कहाँ है ? मैं भी प्यार करूँगी ।’

छोटे बच्चों के बड़े ही अंट-संट प्रश्न होते हैं, जिन्हें कभी नन्हे-नन्हे बच्चों के साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ होगा, वे खूब जानते होंगे कि बच्चे कैसे-कैसे विलक्षण प्रश्न पूछते हैं। उनके सामने जो भी चीज़ आ जाय, उसके बारे में पूछेंगे। यह क्या है, कहाँ से आई, कौन लाया और जाने क्या-क्या पूछते हैं। सभी को या तो प्रेम के चपत लगा कर उन्हें इधर-उधर की बातों में बहकाना पड़ता है या बात टालने के लिये कोई अंट-संट उत्तर दे देते हैं। उनके साथ बातें करने में भूठ सच का ध्यान नहीं रखा जाता। मीरा इस बात पर अड़ गई कि, 'अम्मा, मुझे मेरे दूल्हा को बता ही दे।' माता ने बात टालने के लिये वैसे ही मन्दिर की तरफ उंगली उठा कर बता दिया, 'तेरे दूल्हा ये ही हैं।' बस, बालिका ही तो थी। बात टल गई, वह बहल गई। माता अपनी पुत्री के साथ नीचे आई। माता को तो इस प्रकार टालने के लिये ऐसे उत्तर देने की आदत ही थी; उसके ऊपर इस बात का कुछ प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु मीरा के हृदय में यह बात बैठ गई कि जो सखी स्थानी होकर अपने पति के यहाँ हमारा प्रेम छोड़कर चली जाती है, उनसे प्रेम का नाता तोड़कर ऐसे पति से प्रेम करना चाहिए, जिससे कभी नाता न टूटे। उसे फिर कहीं भी न जाने देना चाहिये। जैसे भी वह रीझे उसे रिझाना चाहिए। इसी बात को लक्ष्य करके आगे चलकर उसने गाया था—

ऐसे पियै जान न दीजै, हो।

चलो, री हखी ! मिलि राखिए, नैननि रस पीजै, हो।

स्थाम सलोनो साँवरो, मुख देखत जीजै, हो॥

जोइ जोइ भेष सों हरि मिलै, सोइ सोइ कीजै, हो।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बड़ भागन रीझै, हो॥

गिरिधर लाल जी

श्री विष्णोर्नमः ये तु प्रकुर्वन्ति नरा भुवि ।

ते यान्ति शाश्वतं विष्णोरानन्दं परमं पदम् ॥*

कुछ काम तो ऐसे होते हैं, जिन्हें हम बड़े प्रयत्न से सीखते हैं किंतु जो फिर भी जैसे होने चाहिये नहीं होते, और कुछ ऐसे होते हैं, जिन्हें हम पेट से ही साथ लेकर पैदा होते हैं और बाल्य-काल से बिना किसी के सिखाये-पढ़ाये करने लगते हैं। इसी सिद्धान्त से भक्ति में दो भेद पूर्वाचार्यों ने बताये हैं—गौणी और वैधी। जो स्वाभाविक गुण हो, बिना किसी प्रमाण के हृदय बिना भक्ति किये रहे ही नहीं, जैसे पानी के बिना कंठ सूखता है, तड़पन होती है, इसी तरह भक्ति के लिए तड़पन हो, संसार कोई काम कोई सुख, कोई सम्बन्धी अच्छा ही न प्रतीत हो—यह तो गौणी भक्ति है। दूसरी भक्ति वैधी है—जो शास्त्रों में पढ़कर गुरुजनों के उपदेशों से तथा कर्तव्य मानकर की जाती है। वैसे तो किसी भी तरह भगवत्-भक्ति हो श्रेष्ठ ही है; किन्तु स्वाभाविक भक्ति में अभ्यास से प्राप्त की जाने वाली भक्ति अपेक्षा बात ही और है।

भगवान तो अन्तर्यामी हैं, घट-घट वासी हैं, भक्तों के 'वांछाकल्पतरु' हैं, उनकी इच्छाओं के पूरक हैं। भगवान के लिए कुछ असंभव नहीं, कुछ अकर्तव्य नहीं। छोटे-बड़े कामों की कल्पना तो हम क्षुद्र, सीमित, एकदेशीय, अल्पज्ञ जीवों ने कर रखी है। वे तो 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' छोटे से छोटे और बड़े से बड़े हैं। वे अपरिमित हैं, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ तथा सभी रूपों में हैं। भक्त को जो भी रूप रुचिकर होता है,

*इस मर्त्यलोक में जन्म लेने पर जो मनुष्य श्रावष्णु भगवान के श्रीवग्रह का अर्चन-पूजन करते हैं, निस्संशय ही शाश्वत, सनातन आनंदरूप श्रीविष्णु के परमपद को प्राप्त होते हैं।

उसी रूप में वे प्रकट होते हैं—सामने आते हैं। इसमें उन्हें श्रम नहीं, कष्ट नहीं, उनके सर्वान्तर्यामीपने में बाधा भी नहीं पड़ती। आपका हृदयपात्र टेढ़ा-मेढ़ा, गोला-लम्बा जैसा भी होगा उसमें व्यापने वाले आकाश का भी वैसा ही रूप बन जायगा। उसमें स्थित आकाश उस महत् आकाश से भिन्न नहीं, पृथक् नहीं। भगवान् भक्त के आधीन हैं, वे स्वयं कहते हैं—

‘हम भक्तन के भक्त हमारे।

सुन अर्जुन परतिज्ञा मोरी, यह व्रत टरत न टारे।’

भगवान् के अवतारों का एक मात्र प्रयोजन ‘साधुपरित्राण’ या भक्तों को सुख देना ही है। दुष्ट-संहारादि काम तो भगवान् की भृकुटि-मात्रके संकेत से हो सकते हैं, किन्तु भक्तों को उनकी लीला, गुण और यज्ञ-वर्णन में आनन्द आता है, इसीलिए वे शूकर, कच्छ-मच्छ, वाराह, वरू आदि के रूप में भी अवतरित होते हैं और भक्तों को सुख देते हैं। नररूप में वे श्रीगुरुनाम से नित्यही मूर्तिमान् विराजित हैं। श्रद्धा के लिए साधु-संत का रूप-धारण करके वे अवनि पर विचरते रहते हैं। कवीरजी ने कहा है—

निराकार की आरसी, साधों ही की देहु।

लखा जो चाहे अलख को, इनहीं में लगि लेहु ॥

भक्ति के लिये वे अपने अनेक श्रीविग्रह बनाकर साक्षात् अपने ही प्रतिमा-रूप से प्रकट हैं। जहाँ भी भक्ति कीजिए, उनका साक्षात्कार होगा। जिस लकड़ी को घिसो उसी में से अग्नि प्रकट हो जायगी। कहीं से आवेगी थोड़ी ही, उसमें तो वह नित्य निवास करती है—व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध से रहती है।

मीराबाई रूप की उपासिका थी। रूप तो सभी अपने स्वामी के ही हैं, किन्तु एक रूप नैनों में ऐसा गड़ जाता है कि फिर उसके सिवाय दूसरा रूप दीग्वता ही नहीं। भक्त यह जानता हुआ भी कि यह मेरे स्वामी की ही छवि है, वह अपने मनमाने रूप में ही अपने आराध्य देव को सदा

देखना चाहता है। इसीलिए तो ब्रज में हँसकर विनोद के साथ तुलसीदास जी ने कहा था—

कहा कहाँ छवि आज की, भले बने हो नाथ ।

तुलसी मस्तक नवत है, धनुष बाण लेउ हाथ ॥

बस, फिर क्या था ? तुलसी ने मस्तक नवाकर ज्यों ही दृष्टि उठाकर फिर देखा तो भक्त-इच्छा-कल्पतरु प्रभु और ही दीखने लगे—

कित मुरली कित चन्द्रिका, कित गोपियन को साथ ।

अपने जनके कारणों, श्रीकृष्ण भये रघुनाथ ॥

इसी तरह मीरा तो कहती है 'बसो मेरे नैनन में नंदलाल' कैसे रूप से ? यही कि 'मोहिनि मूरति साँवरि सूरति, नैना बने विशाल । अधर-सुधा रस मुरली राजत, उर बैजन्ती माल ।'

भगवान् भी इसी रूप से उसकी रूप तृष्णा को शांत करने पधारे । मीराबाई के पिता के यहाँ एक साधु-महात्मा आये और कुछ दिन उन्होंने वहाँ निवास किया । मीरा तो प्रेम-दिवानी थी ही । अपने प्यारे के संसर्गियों के संसर्ग में भी सुख मानती थी । वह मंदिर में भगवान् की भाँकी तो रोज करती थी, किन्तु उसकी हार्दिक इच्छा थी—एक नन्हें से, सुंदर से, सलौने से मुरलीमनोहर मेरे भी पास आ जायँ तो मैं भी खूब रच-पचकर उनकी सेवा करूँ । पुजारी जी सेवा करते हैं, मैं प्यासी ही रह जाती हूँ । वे पट बन्द कर देते हैं, अपने देव की सुश्रूषा स्वयं इन हाथों से होती तो बहुत ही सुंदर बात थी । जो साधु महाराज उनके यहाँ ठहरे थे, उनके पास एक बड़ी ही सुंदर, मनोहर, बाँकी चितवन वाली श्याम-सुंदर की मनमोहक मूर्ति थी । मीरा की दृष्टि उसमें गड़ गई । उसके प्राण उस साँवली मूरति के लिए तड़पने लगे । उसने अपने पिता से कहा— 'पिता जी ! साधु बाबा के पास जो श्यामसुंदर हैं, उन्हें

मुझे दिला दीजिए ।’ पिता ने बहुत समझाया—‘बेटी ! साधु-महात्मा अपने भगवान को किसी को देते थोड़े ही हैं । अपने यहाँ क्या भगवान नहीं हैं ? फिर तू कहेगी तो और मँगा देंगे ।’ किन्तु मीरा कब मानने वाली थी, उसके नैनो में तो वही रूप-माधुरी बस गई थी । उसने कहा—‘नहीं पिताजी ! मैं तो इसे ही लूँगी ।’ पिता लाचार थे, विवश थे । करते भी तो क्या करते ? मीरा अपनी बात पर अड़ गई । कहावत है ‘बालहठ और त्रियाहठ कठिन होता है ।’ बालहठ में ध्रुव जी का दृष्टांत दिया जाता है ; सबने समझाया, नारदजी ने ऊँचा-नीचा दिखाया, किन्तु उसने अपनी हठ नहीं छोड़ा, पूरा करके ही दम लिया । इसी तरह कैकेयी आदि ने अपना हठ पूरा किया । यहाँ भी बाल-हठ था । पिता ने साधु जी से प्रार्थना की, किन्तु वे साधु कुछ धन के लोभी तो थे ही नहीं । राठौर रतनसिंह ने माधु की भाँति २ से विनती की, प्रार्थना की बहुत कुछ धन देने के लिए भी कहा, किन्तु माधु बाबा किसी तरह भी राजी नहीं हुए । अपने इष्टदेव की माँग सुनकर वे बबड़ा गये और दूसरे दिन सूर्योदय से पहिले ही, बहुत सवेरे उठकर अपनी भोली-डंडा बाँध कर वहाँ से ग्विसक गये ।

सुबह मालूम हुआ कि साधु बाबा तो चले गये और साथ में अपने श्यामसुंदर को भी ले गये । बालिका मीरा के ऊपर मानों वज्र गिर पड़ा । उसने खाना-पीना सब छोड़ दिया । जो मूर्ति उसके मन में बस गई थी, उसी का ध्यान करते हुए वह रोती रही । उसने कुछ भी काम नहीं किया । माता पिताने बहुत समझाया । भाँति २ से बहलाया, बहुत सी चीजें देने का वायदा किया, किन्तु मीरा ने उनकी एक भी न सुनी । वह अपनी टोक पर अड़ी रही । मुझे तो श्यामसुंदर की मूर्ति चाहिए ।

माता-पिता तो विवश थे, किन्तु भगवान अपने भक्त को दुखी कैसे देख सकते हैं ? वे साधुरूपधारी भगवान ही

तो थे। अपनी रूप-माधुरी लेकर वे स्वयं ही पधारे थे। फिर बिना दिये चले क्यों गये? वह उसके प्रेम को बढ़ाने की क्रिया थी। पावेंती जी के पास भी तो शिवजी ने सत्पत्नियों को प्रेम-परीक्षा लेने ही के लिए भेजा था। मीरा काचित्त उस मन-मोहक मूर्ति में और भी अधिक गड़ गया। फिर एक यह भी बात है कि जो वस्तु जितनी ही कठिनता से, चिरकाल की साधना और तपस्या से मिलती है, उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है। सहज में सस्ते में मिली चीज की उतनी प्रतिष्ठा नहीं होती। इधर मीरा का यह हाल था, उधर साधुबाबा को रात्रि में स्वप्न हुआ। मानों भगवान कह रहे हैं—‘मेरे प्यारे! मैं तुम्हारे साथ मीरा के ही लिए तो आया था। तुम्हारी साधना अब समाप्त हुई। तुम मुझे मीरा के पास ही पहुँचा दो। यही मेरी आज्ञा है?’

साधु की आँखें खुलीं। अपने स्वामी की आज्ञा है, ऐसा सुनते ही वे लौट पड़े। हम जो भी कर रहे हैं, उनकी ही प्रसन्नता के लिए तो करते हैं। उन्हें मीरा के पास रहने में ही प्रसन्नता है, तो सेवक को क्या आपत्ति? स्वामी की सभी प्रकार की आज्ञाओं का पालन करना सेवक का परम धर्म है। साधु बाबा मूर्ति को लेकर राठौर रतनसिंह के महलों में पहुँचे। माता-पिता साधु की सूरत को हो देखकर खिल उठे। मीरा तो मानों निहाल हो गई। आँखों में आँसू भरकर भरोई हुई वाणी से साधु ने कहा—‘बेटी मीरा! भगवान तुम्हारी भक्ति से प्रसन्न हैं। वे तुम्हारी सेवा स्वीकार करने को लालायित हैं। बेटी! तुम इन गिरिधर गोपाल जी को स्वीकार करो और प्राणों से भी अधिक इन्हें प्यार करना। ये ही तुम्हारे इष्टदेव हैं, ये ही सवंस्व हैं। इनकी सेवा में कभी चूक मत करना। तन्मय होकर सेवा करोगी तो तुम अनंत सुख, शाश्वत

शांति पाओगी।' इस प्रकार साधुरूपधारी वे भगवान गुरुदेव ऐसा उपदेश करके उसी समय बिना कुछ लिये-दिये वहाँ से अन्तर्धान हो गये ।

मीरा ने मुँहमाँगी मुराद पाई । उसे मानो सम्पूर्ण संसार का सर्वश्रेष्ठ सुख मिल गया हो । अपने चितचोर को उसने हृदय-कमल के कोमल सिंहासन पर पधरा दिया, नेत्रों के नीर से उन्हें स्नान कराया, अन्तःकरण पर कसक से रगड़कर चंदन चढ़ाया; भक्ति-भाव के पुष्प चढ़ाये । मीरा उन गिरिधर लाल को पाकर संसार के सभी सम्बन्धों को भूल गई । दिन भर भगवान की सेवा-पूजा करना, उनके लिये हार बनाना, माला गँथना, पूजन की सामग्रियों को इकट्ठा करना—यही उसके जीवन का दैनिक कर्म था । वह गिरिधर लाल को पाकर उन्हीं की बन गई । उसने प्रेमभरी मस्ती में आकर गाया था—

मेरे तो गिरिधर-गुपाल दूसरो न कोई ।

जाके सिर मोर मुकुट, मेरो पति सोई ।

तात मात भ्रात बन्धु, आपनो न कोई ॥१॥

छोड़ दई कुल की कान, का कारहूँ कोई ।

संतन ढिँग बैठि बैँठि, लोक लाज खोई ॥२॥

चुनरी के किये टूक, ओढ़ लीन्ह लोई ।

मोती मूँगे उतार, बन माला पोई ॥३॥

असुवन जल सींच सींच, प्रेम बेलि बोई ।

अब तो बेल फैल गई, होनी हो सो होई ॥४॥

दूध की मथनियाँ बड़े, प्रेम से बिलाई ।

माखन जब काढ़ि लियो, छाछ पिये कोई ॥५॥

आई में भगति काज, अगत देखि मोही ।

दासि मीरा गिरिधर प्रभु, तारो अब मोही ॥६॥

विवाह की बातचीत

पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता

कस्मै प्रदेयेति महान् वितर्कः ।

दत्ता सुखं प्राप्स्यति वा न वा च

कन्या पितृत्वं खलु नाम कष्टम् ॥❀

इस संसार-रूपी रथ के पुत्र और पुत्री दो पहिये हैं। दोनों ही परम आवश्यक हैं, दोनों से ही यह चल सकता है। किन्तु आर्य धर्म में क्या समस्त धर्मों में पुत्र की अपेक्षा पुत्री की जिम्मेदारी विशेष समझी जाती है। पुत्री हमारी परम प्रतिष्ठा की चीज है। आर्य धर्म में प्रतिष्ठा के लिये नारी जाति की पवित्रता जितनी अधिक आवश्यक समझी जाती है, उतनी आवश्यक और किसी की पवित्रता नहीं समझी जाती। पुत्र यदि नालायक निकल गया, तो स्वयं भोगेगा; किन्तु पुत्री के सम्बन्ध में तनिक भी गड़बड़ हुई तो कुल परम्परा से चली आई सभी प्रतिष्ठा धूलि में मिल जायगी। हमारी नाक कट जायगी, हम लोगों के सामने क्या मुँह दिखावेंगे। पुत्र के प्रति दो ही कर्तव्य बताये गये हैं—उसका पालन पोषण करना और उसे योग्य बना देना। किन्तु पुत्री के प्रति पिता के चार कर्तव्य हैं।

❀इस संसार में पुत्री का उत्पन्न होना बड़ी चिन्ता की बात है। क्योंकि उत्पन्न होते ही किसको देना चाहिये ? देने पर भी इसे सुख मिलेगा कि नहीं ? यह महान तर्क-वितर्क उत्पन्न होते रहते हैं। इस प्रकार कन्या का पिता होना बड़ी कष्ट की बात है।

पालन पोषण करना, गृहकार्यों के योग्य बनाना; ये तो हैं हीं इसके अतिरिक्त योग्य पति खोजकर उसे देना और सदा उसके सुख-दुख की चिन्ता रखना। इन कामों में वह—पिता की मूर्ति-वान प्रतिष्ठा स्वयं कुछ भी सहयोग नहीं देती थी। पुरानी कहावत थी कि—

“गौ को और पुत्री जिसके साथ भी कर दो उसी के साथ चली जायगी।”

हम सब कुछ सह सकते हैं, किन्तु यदि हमारी नारी जाति के सम्बन्ध में कोई कुछ कहे तो हमारे पूर्वजों का खून खौल सकता था। आर्य युवक अपने ऊपर प्रहार करने वाले को क्षमा कर देते थे, किन्तु यदि उस युवक से उसकी बहिन के सम्बन्ध में कोई अनुचित शब्द कह दे, तो या तो उस कहने वाले की ज़वान न रहेगी या युवक स्वयं ही अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देगा। वृद्ध पुरुष सब कुछ सह सकता है; उसके पुत्रों को भला बुरा कहो वह हँसकर ढाल देगा, किन्तु उसकी पुत्री का नाम लेते ही उसका भौंहें चढ़ जाते हैं और वह उसी समय युवक की तरह उछल कर कहने वाले की ज़वान को निकालने की चेष्टा करता था। इसीलिये सम्माननाय पुरुषों के लिये पुत्री एक चिन्ता की वस्तु मानी जाती थी। कालदेव ! तुम्हारी गति विचित्र है। आर्य जाति की वह प्रतिष्ठा अब धूलि में मिल गई, वह अपनी प्राचीन मर्यादा को भुला बैठी और अब “परस्पर की रुचि ही दाम्पत्य” का कारण बन गई।

हम जिस समय की बातें कह रहे हैं, उस समय के प्रायः सभी पिता अपनी प्यारी पुत्रियों के विवाह-योग्य होते ही चिंतित हो जाते थे। उनकी यह आंतरिक अभिलाषा रहती थी कि अपना सर्वस्व निझावर करके, अपने शरीर को भी बेच

कर, अपनी प्यारी पुत्री के लिये सम्मानीय घर और सुयोग्य वर ढूँढ़कर उसके साथ उसका विवाह कर दें, जिससे उसे उम्र भर सुख मिले। सुयोग्य वर को कन्या का दान कर देने से बढ़ कर आर्य-धर्म में कोई बड़ा दान नहीं बताया गया है। यदि विशुद्ध धार्मिक दान था, इसमें असावधानी करने से, अयोग्य को, अपात्र को अर्पण करने से दाता गृहीता दोनों को ही उम्र भर पछताना पड़ता है।

राठौर रतनसिंह जी स्वयं राजा तो नहीं थे, किन्तु उनका जन्म जोधपुर के मेड़ता राजवंश में हुआ था। इनकी एक मात्र यही इच्छा थी कि मेरी पुत्री राजरानी हो। वह भी ऐसे राजा की पुत्र-वधू हो, जो अपनी वीरता और प्रतिष्ठा के लिये भारतवर्ष में सर्वश्रेष्ठ हो।

उन दिनों प्रायः सभी राजपूताने के राजे मुसलमानों के आक्रमणों से शिथिल हो गये थे। केवल चित्तौड़ के शिशो-दिया वंश के राणा संग्राम सिंह या साँगा ही एक ऐसे थे, जो अपने नाम के लिये सर्वत्र विख्यात थे। वे तेजस्वी यशस्वी और आत्मभिमानी नरपति थे। सम्पूर्ण चित्तौड़ राज्य में ही नहीं, किन्तु पूरब से पश्चिम तक और उत्तर से दक्षिण तक उनके यश सौरभ की सुवास फैली थी। वे बड़े ही राजनिर्तिज्ञ तथा कार्य-कुशल थे। मेवाड़ के अतिरिक्त मारवाड़, अम्बेर, गवालियर, अजमेर, सीकरी और बूँदी आदि राज्यों के राजा इन्हें अपना अधिपति मानते थे। अपने स्वधर्म, स्वजाति और स्वाभिमान का प्रेम इनमें कूट-कूटकर भरा था। उन दिनों ये राजपूताने के आदर्श महाराजा समझ जाते थे। ये १५६६ वि० में सिंहासनारुढ़ हुए।

उन दिनों देहली के राज्य-सिंहासन पर इब्राहीम लोदी विराजमान था। उसकी आंतरिक इच्छा थी कि राणा साँगा को यदि मैं जीत लूँ तो सम्पूर्ण राजपूताना मेरे आधीन हो जाय अतः उसने राजपूताने पर चढ़ाई कर दी। राणा साँगा ने मुसलमानी सेना को बुरी तरह से हराया। लोदी जान लेकर भागा, दुबारा फिर चढ़ाई की किन्तु इब्राहीम की मनोकामना पूर्ण न हुई। उसकी सेना का राजपूत क्षत्रियों ने इतना विध्वंस किया कि उसे अपनी यह इच्छा सदा के लिये छोड़नी पड़ी। इस विजय से राणा साँगा का हौसला बहुत बढ़ गया। पास में ही जो रणथम्भौर का किला जो राजपूतों से मुसलमानों के अधिकार में आगया था, उसके अली नामक सूबेदार को साँगा ने मारकर उस पर अपना अधिपत्य जमा लिया और दिल्ली के सिंहासन पर भी अधिकार जमाने के लिए उन्होंने चढ़ाई की।

इन्हीं सब कारणों से राणा साँगा के गुणों का सर्वत्र गान होने लगा। राजपूताने के चारण भाट उनके नाम के गीत बना कर गाया करते थे। उनके सबसे बड़े राजकुमार भोजराज सिंह थे, उनसे छोटे विक्रमाजीत सिंह और सबसे छोटे उदयसिंह थे। राणा उदयसिंह ने ही सुप्रसिद्ध नगर उदयपुर बसाया और इनके ही संसार-प्रसिद्ध महाराणा प्रताप पुत्र हुए, जो मरते दम तक राजपूती आन पर डटे रहे। पहिले सभी चित्तौड़ के नरेश 'राणा' कहलाते थे। प्रताप ने ही अपने को 'महाराणा' घोषित किया। तभी से अब तक उदयपुर के नरेश महाराणा कहलाते हैं।

राणा साँगा के पुत्र कुँवर भोजराज सुन्दर थे, सुशील थे सदाचारी और मित-भापी थे। सबसे बड़े पुत्र होने के कारण

चित्तौड़ के राज्य-सिंहासन के वे ही अधिकारी थे। श्री रतन सिंह जी की एकमात्र यही हार्दिक अभिलाषा थी की मेरी प्राण-प्यारी पुत्री राजरानी बने। वह भी अन्य बंशों की नहीं, राजपूतों में परम आदरणीय शिशोदिया बंश में ही उसका सम्बन्ध हो।

मेड़ता जी ने अपनी आन्तरिक अभिलाषा राणा साँगा से जाकर निवेदन की। उस समय मीरा की अवस्था १५, १६ वर्ष की थी। वह कुलीन वंश की थी, दूदा जी की पोती थी और उसके रूप, गुण सौन्दर्य और सुशीलता की सभी पुरुष सराहना करते थे। राणा जी को ऐसे सुन्दर सम्बन्ध में आपत्ति ही क्या होनी थी! उन्होंने इस सम्बन्ध को सहष स्वीकार कर लिया। श्रीरतन सिंह जी की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। उनकी चिरकाल की मनोकामना पूर्ण हुई। यह शुभ समाचार उन्होंने आकर अपनी धर्मपत्नी को सुनाया। माता-पिता अभी से पुत्री के सुखों का स्वप्न देखने लगे। वे सोचते थे— महाराज साँगा के बाद कुँवर भोजराज चित्तौड़ के अधीश्वर होंगे। तब हमारी पुत्री राजरानी होगी, उसके पुत्र होंगे, वे भी राजा होंगे और चित्तौड़ की गद्दी पर हमारी पुत्री के बंश का अधिकार होता जायगा। इधर माता-पिता तो इस तरह अपने मनसूबे बाँध रहे थे उधर मीरा एकान्त में विह्वल होकर अपने गिरिधरलाल के सामने यह गा रही थी—

म्हारी सुध ज्यूँ जानो ज्यूँ लीजो जी ॥

पल पल भीतर पंथ निहारूँ, दरसण म्हाँने दीजो जी ॥१॥

मै तो हूँ बहु आगणहारो, आगण चित मत दीजो जी ॥२॥

मैं तो दासी थाँरे चरण जनां की, मिल बिछुरन मत कीजो जी ॥३॥

मीरा ता सतगुर जी सरणो, हरि चरणो चित दीजो जी ॥४॥

विवाह

गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात्,
पिता न स स्यात् जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यात् न पतिश्च सस्यात्,
न मोचयेद्यः समुपेत मृत्युम् ॥*

सम्बन्ध हमें इतने प्रिय क्यों हैं ? इसलिये कि वे श्याम-सुन्दर के मिलाने में हमें सहायता देते हैं । माता पिता हमारे हृदय में भक्ति का अंकुर पैदा कराते हैं, गुरु ज्ञानोपदेश करते हैं, इसके विपरीत जो हमें परमार्थ पथ से भ्रष्ट करनेवाले हों, प्रभु के पादपद्मों में पहुँचाने में बाधक हों, वे चाहें फिर कितने भी समीपी सगे सम्बन्धी हों, वे अपने से दूर ही हैं । इसीलिये तुलसीदास जी कहते हैं, 'मानीय सबहि राम के नाते ।' जो श्यामसुन्दर के स्नेही हैं वे ही अपने नातेदार हैं । संसारी बन्धु तो बन्धन के हेतु हैं, वे तो संसार में और अधिक जकड़कर कस देते हैं । इसीलिये परमार्थी उनसे सदा सचेष्ट रहता है ।

कुमारी मीरा अपने मनमोहन की उपासना में मस्त थी । उन्हें कुछ भी पता नहीं था कि माता-पिता क्या कर रहे हैं ? जब विवाह की बात पक्की हो गई, तब माता के बड़े ही स्नेह से बड़ी ही प्रसन्नता से यह समाचार अपनी पुत्री को सुनाया ।

*वह गुरु, गुरु नहीं, वह स्वजन, स्वजन नहीं, वह पिता, पिता नहीं, वह जननी, जननी नहीं, वह दैव, दैव नहीं, वह पति, पति नहीं जो आई हुई मृत्यु को मिटाने में सहायक न हो ।

“बेटी ! तेरे सौभाग्य की कहाँ तक बढ़ाई की जाय ।” क्षितौड़ा-धिपति वीर शिरोमणि महाराज संग्रामसिंह ने तुम्हे पुत्रवधू के रूप में ग्रहण करना स्वीकार कर लिया है । युवराज कुमार भोजराज उनके सबसे बड़े पुत्र हैं, जल्दी ही तू राणा साँगा की पुत्रवधू बन जायगी ।” इस समाचार को सुनकर मीरा को कुछ विशेष प्रसन्नता नहीं हुई । उसने माता के सामने गाया—

गोविन्द लीन्यो मोल, माई मै गोवन्द लीन्यो मोल ॥
कोई कहै सस्तो कोई कहै महँगो, लीन्यो तराजू तोल ॥
कोई कहै घर में कोई कहे बन में, राधा के संग किलोल ॥
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, आवत प्रेम के मोल ॥

मीरा ने विवाह से अनिच्छा प्रकट की, किन्तु विवाह को ही जीवन का सर्व सुख और मुख्य उद्देश मानने वाले इस बात को कैसे समझते ? मीरा विवाह की भूखो न हो सो बात नहीं । वह विवाह चाहती थी, किन्तु उसका तो सम्बन्ध एक दूसरे वर के साथ पक्का हो चुका था । जिसके साथ एक बार सम्बन्ध पक्का हो गया और वरवधू दोनों ने एक दूसरे को स्वीकार कर लिया तो वही सच्चा पति हो चुका । उसे छोड़कर फिर दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करना यह तो आर्य-ललनाओं के सिद्धान्त के विरुद्ध है । पातिव्रत धर्म के तो यह एक दम प्रतिकूल है । इसीलिये जब माता मीरा से बार-बार सगाई की चर्चा करने लगी कि कुँवर भोजराज के साथ तेरी सगाई हो चुकी है, तब उसने जो सच्ची बात थी अपनी माता से निवेदन कर दी—

माई म्होंने सुपने में वरी गोपाल ।
राती पीती चुनड़ी ओढ़ी मेंहदी हाथ रसाल ॥

काँई और को वरूँ भाँवरी म्हाँके जग जंजाल ॥

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, करो सगाई हाल ॥

यदि सगाई करनी ही है तो गिरिधर लाल जी के साथ मेरी सगाई करो, उन्हीं के साथ भाँवर फिराओ, उन्हीं की बरात बुलाओ, किन्तु माता ने इसे हँसी की बात समझी। वह सोचती थी—सभी युवक और युवती पहिले-पहल विवाह की बात-चीत चलने पर इसी प्रकार अनिच्छा पकट करते हैं, यह स्वाभाविक बात है। पीछे सभी उसी में तल्लीन हो जाते हैं। शायद ही कोई निर्लज्ज युवक-युवती अपने मुँह से कहते हों, नहीं माता पिता के सामने तो सभी शर्म से सिर नीचा करके अपनी अनिच्छा-सा ही पहिले पहिल पकट करते हैं। मीरा के माता-पिता ने भी यही समझा कि अभी बच्ची है ऐसे ही कहती रहती है। जब घर-बार का बोझ सिर पर पड़ेगा तो अपने आप समझ जायगी। इसलिये माता-पिता ने मीरा की सम्मति की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। यदि कोई उस प्रेम दिवानी की पीड़ा के पारखी माता-पिता होते तो विवाह आदि की कभी नौबत हीन आती। भला जिन आँखों में दिन रात श्यामसुंदर की साँवरी सलोनी मूर्ति नाचती रहती है, वहाँ विवाह का क्या काम? वहाँ तो नित्य वृप्ति है। “जिन आँखिन में यह रूप बस्यो उन आँखिन से फिर देखिये का।” किन्तु मीरा के माता-पिता इस मर्म को कैसे समझते। उन्होंने अपने प्रधान कर्तव्य का पालन किया। इससे मीरा की कोई क्षति नहीं हुई। उसकी भक्ति में किसी प्रकार की बाधा नहीं हुई। कुँवर भोज-राज के साथ सांसारिक दृष्टि से सम्बन्ध होने पर भी कोई शक्ति उसका श्यामसुन्दर से सम्बन्ध विच्छेद न कर सकी। यही

नहीं, प्रत्युत इन पारिवारिक सम्बन्धों से उसे और भी अधिक उत्तेजना मिली।

राठौर रतनसिंह के घर पर बड़ी धूमधाम थी। यह संवत् १५७३ विक्रमी के आस पास की बात है। वह छोटा-सा सम्पूर्ण गाँव चित्तौड़ की विशाल सेना से घिर गया। स्थान स्थान पर वीर राजपूतों के पड़ाव पड़े थे। मेड़ता रतन सिंह के कोई दूसरी सन्तान पुत्र अथवा पुत्री तो थी ही नहीं, इसलिए उन्होंने अपने मन के सभी हौसले अपनी एक मात्र पुत्री के विवाह में ही पूरा किये। महाराणा साँगा के सभी साथियों की उन्होंने सभी प्रकार से खूब तत्परता के साथ सेवा की।

इधर मीरा समझ रही थी कि मेरी शादी आज श्यामसुन्दर के साथ होने वाली है। वे ही खिलाड़ी इतनी भारी बरात लेकर मुझे ग्रहण करने आये हैं। उसे भी उत्साह था, किन्तु वह उत्साह इस सांसारिक विवाह का नहीं था, उसे तो अपने पारमार्थिक प्रभु से मिलने का उल्लाह था।

शुभ लग्न और शुभ मुहूर्त में पंडितों ने कुँवर भोजराज के साथ मीरा का विवाह संस्कार किया। मीरा अपने हृदय में—अपने सच्चे स्वामी—गिरधरलाल को छिपाये रही। यहाँ तक कि भाँवर पड़ते समय भी उसने उन्हें ही अपने साथ-साथ अग्नि की प्रदक्षिणा करते हुए देखा और माना। वह समझ रही थी, कि श्यामसुन्दर मुझे ग्रहण कर रहे हैं और आज से मैं उनकी सच्ची दासी बन गई, झूठे धंधों से अब मेरा फंद छूट गया।

इस प्रकार बड़ी धूमधाम से विवाह का कार्य सम्पन्न हुआ। कई दिनों तक बरात मीरा के घर ठहरी रही। अन्त में वह दिन आया, जब माता-पिता ने अपनी आँखों की पुतली को, प्राण-

प्यारी पुत्री को आँसू बहाते हुए छाती से चिपटा कर विदा किया। मेड़ता रतन सिंह जी ने दहेज में बहुत सा-धन, हाथी घोड़े आदि दिये। चलते समय मीरा फूट-फूट कर रोने लगी। जिन माता-पिता के साथ ये १५, १६ वर्ष निरन्तर बिताये, उनसे बिलग होते समय मीरा का हृदय भर आया। स्वजनों का मोह बड़े-बड़े योगियों तक को मोहित कर लेता है। मीरा के लिये एक और बड़ी संकोच की बात थी, उसके साथ ससुराल में जाने वाला सामान माता की आह्वा से दासियों ने बाँधा था। बहुत से भाँति-भाँति के बहुमूल्य वस्त्र थे। हीरा मोतियों की मालायें थी। सोने चाँदी के बहुत से आभूषण थे। सभी चीजें अलग-अलग बाँधी गई, किन्तु मीरा के जो श्रीगिरिधर लालजी उसके निजी मन्दिर में पधारे हुए थे, उनका किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। माता ने मोचा होगा—‘भगवान की मूर्ति को क्या भेजना, उनकी यहीं पूजा होगी। मीरा के लिये यह असह्य दुःख था, स्वयं संकोच वश ले नहीं सकती थी। चलते समय माता ने बड़े ही स्नेह के साथ अपनी पुत्री को हृदय से लगाकर पूछा—‘बेटी ! तू अपने मन का और भी जो चीज चाहे माँग ले।’ मीरा ने अत्यंत ही संकोच के साथ लजाते हुए कहा—‘माँ ! मैं अपने गिरिधर गुपाल जी को भी साथ ले जाना चाहती हूँ।’ माता ने पुत्री की इच्छा पूर्ति की। उसने गिरिधर लाल जी को साथ ले जाने की सहर्ष अनुमति दे दी। उसी बात को लक्ष्य करके मीरा ने गाया था—

दे री माई, म्हाँ को गिरधर लाल ।

प्यारे चरण की आन करत हौं, और न दे मणि लाल ॥

नातो सगो परिवारो सारो, मन लगे मानो काल ॥

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, छवि लखि भई निहाल ॥

ससुराल में मीरा

परिवदतु जनो यथा तथा हं ननु सुखरो न ततः विचारयामि ।
हरि रस मदिरा मदेन मत्तः भुवि विलठाम

भगवान ने सभी के स्वभाव भिन्न-भिन्न बनाये हैं और सभी अपने स्वभावानुसार वर्ताव करने के लिए मजबूर हैं। चोर चोरी करने को मजबूर है, तो न्यायाधीश उसे कठिन से कठिन दंड देने को मजबूर है। यदि हम दूसरों के स्वभाव को और विवशता को समझ सकें तो संसार में इतना कलह, इतनी लड़ाइयाँ, मान-अपमान के झगड़े और दुःख तथा अशांति के कार्य न हों, किन्तु अपने स्वभाव से स्वयं मजबूर होते हुए भी सभी लोग दूसरों के स्वभाव की, कार्य की विवश होकर निंदा करते रहते हैं। एक दूसरे की नीयत को बुरा बनाते हैं और उसे अपना सा बनाने की चेष्टा करते हैं।

लीग वाचालता वश जैसा-तैसा कहें, मैं इसका विचार नहीं करती। श्री भगवद्गुराग की मदिरा के मद से मत्त होकर मैं तो भूमि में लोटती हूँ।

सभी लोग अपने सम्बन्धी को अपना ही अनुयायी बनाना चाहते हैं। उपदेश देते समय वे इस बात को भूल जाते हैं कि जैसे हम अपने स्वाभाविक कर्म करने को विवश हैं, उसी तरह दूसरा भी अपने स्वभाव से विवश होगा। इस अज्ञान का फल यह होता है कि जिनपर अपना अधिकार होता है, उन्हें हठपूर्वक भी हम अपना अनुयायी बताने की चेष्टा करते हैं। किन्तु प्रतिफल उलटा ही होता है; उनके जोर देने पर वे अपने सिद्धान्तपर अड़ जाते हैं और यदि वह सत्य सिद्धान्त हुआ तो अन्त में सभी को उसके सामने सिर झुकाना पड़ता है, क्योंकि विजय सत्य की ही होती है, झूठ की नहीं, 'सत्यमेव जयते नान्नृतम्।'।

जिस प्रकार हिरण्यकशिपु ने प्रल्हाद को, भगवत्-भक्ति छोड़ने के लिये भाँति २ के कष्ट दिये, उसी प्रकार मीरा को भी अपने परिवार वालों की बहुत सी दुख भरी वानें महनी पड़ीं। किन्तु वह वीर वाला अपने पथ से किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुई। उसके कांचन रूपी शरीर को भाँति भाँति के कष्ट रूपी अग्नि से जितना ही अधिक तपाया गया, उसका वर्ण उतना ही अधिक चमकीला और खरा निकलने लगा। उस ताप से वह संसार के सामने बिलकुल निर्मल साबित हुई।

विवाह होकर मीरा अपनी ससुराल में आई। राजमहल में नव-वधू का खूब स्वागत-सत्कार हुआ। अपने प्यारे पुत्र के साथ एक सुघड़ दुलहिन को देखकर कुँवर भोजराजकी माता फूली नहीं समाई। वह सुन्दर थी, सुशील थी और सर्व गुण-सम्पन्न थी। सास ने उसे अपने कुल परम्परा की सभी बातें बताईं। अपने बंश की जितनी पुरानी रीति-रिवाजें थीं उन्हें

करने के लिये उपदेश दिया । मीरा ने नम्रता से उत्तर दिया—
 “मुझे तुम्हारे रीति-रिवाजों से क्या लेना है ? मैं तो सिवाय
 अपने गिरिधर लालजी के और किसी को कुछ जानती ही
 नहीं ।” सास के लिये यह बड़े ही अपमान की बात थी । जिस
 बहू को सदा सासके इशारे पर नाचना चाहिये वह मुँह पर
 जवाब ही नहीं देती, प्रत्युत उसकी आज्ञाओं का भी उल्लंघन
 करती है । सासको यह बात बहुत बुरी लगी और यहीं से कहा-
 सुनी का सूत्र-पात हो गया । नव-दुर्गाओं में सभी सौभाग्यवती
 स्त्रियाँ तथा कुमारी कन्यायें गन गौरिका पूजन करती हैं ।
 सौभाग्यवती स्त्रियाँ तो अपने अचल सुहाग और पति की मंगल-
 कामना के निमित्त, और कुमारी कन्यायें रूप-गुण-सम्पन्न पति-
 प्राप्ति की कामना से करती हैं । मीरा बाई से भी गौरी-पूजन
 करने के लिये कहा गया किन्तु मीरा ने स्पष्ट कह दिया,—
 ‘मेरा सौभाग्य तो अचल है । मुझे सुहाग छिने का भय ही
 नहीं । पूजा तो मैं उन्हीं अपने एक गिरिधर लाल की करती हूँ
 और करूँगी ।’ एक नवबधू की ऐसी बातें सौभाग्यवती स्त्रियों
 को बहुत ही बुरी लगीं । सास ने भी भाँति २ के पूरन पूछे,
 जली-कटी और उलटी-सीधी बातें सुनाई । मीरा ने सब की
 बातें सुनीं, उनका उत्तर भी दिया और अपनी पैज पर अड़ी
 रही । उसे कोई भी उसके सिद्धान्तसे नहीं डिगा सका । इन
 सब बातों का मीरा ने अपने पदों में चित्र खींचा है । पञ्चोत्तर
 के रूप में उसने गाया है । मीरा कहती है, ‘मुझे तो अपने
 गुरु गुविन्दकी आन है, मैं गनगौरि की पूजा न करूँगी ।’

म्हाना गुरु गोविन्द री आण, गौरल ना पूजो ।

सासने कहा—

ओरज पूजै गोरज्याजी, ये क्यूँ पूजो न गोर ॥

मन बल्लत फल पाव स्योँजी, ये क्यूँ पूजो ओर ॥

सासने कहा—‘बहू ! सभी स्त्रियाँ गौरिपूजन करती हैं, तू क्यों नहीं गौरि पूजा करती, इस पूजन से तू मनोवोद्धित फल पावेगी, दूसरे की पूजा क्यों करती है ? मीरा ने कहा—

नहि हम पूजा गोरज्या जी, नहि नहि पूजा अनदेव ।

परम सनेही गोविंदो, ये काई जानो म्हरां मेव ॥

‘सासू जी, मैं गौरी-पूजा नहीं करती न और ही किसी दूसरे देवको पूजता हूँ। मैं तो परम सनेही गोविन्द की ही एक मात्र पूजा करता हूँ। आप हमारे इस भेद को क्या जानती हो (अर्थात् वे ही हमारे एक मात्र पतिदेव हैं: पतिव्रता एक का ही पूजन करती है)।’

सासने कहा—

बाल सनेही गोविंदो, साध सन्तो, कां काम ।

ये बेटी राठोड़ की, यौं ने राज दिया भगवान ॥

‘बहू ! गोविन्द भगवान से स्नेह करना यह तो विरक्त साधु सन्तों का काम है। तेरा प्रतिष्ठित राजवंश में जन्म हुआ है। राठोड़की बेटी है, भगवत कृपासे राजरानी बनी है। तू इस हठ को छोड़दे ।

इस पर मीरा बोली—

“राज करैज्यानाँ करखे दीज्यां, मैं भगतौरीदास ।

सेवा साधु जननकीं म्हारे राम मिलन की आस ॥”

“सासू जी ! राज्य जिसे करना हो करे। मैं तो भगवत भक्तों के चरणों की सेविका हूँ। मेरे तो बस दो ही काम हैं—साधु

महात्माओं की सेवा करना और उन गिरिधर गोपाल की अहर्निशि अनुकम्पा की पूतीक्षा करते रहना। मुझे इन कामोंसे ही फुरसत नहीं।”

सासने कहा—

लाज पीहर सासरो, माइतणो भोसाल।

सबही लाजै मेड़तियाजी, थाँसू बुरा कहे संसार॥

‘बहू ! तू यह कैसी बातें बक रही है। तेरे इस काम से तेरे कुल को, तेरे वंश को, ससुराल को मायके तथा ननसाल सभी को शरम से सिर नीचा करना पड़ेगा। तेरे कारण सभी परिवार वालों की निंदा होगी और सभी तुझे धिक्कार देंगे।’

मीरा ने कहा—

“चोरी करों न मारगी, नहि पिया मैं करूँ अकाज।

पुत्रके मारग चलताँ, झुक मारो संसार॥

नहि मैं पीहर सासरे, नहीं पिया जी री साथ।

मीरा ने गोविन्द मिल्या जी, गुरु मिलिया रैदास॥”

सासू जी ! भला इसमें सिर नीचा होने की कौन सी बात है ? बदनामी तो तब होती, जब मैं कोई चोरी बदमाशी करती। मैं तो पुण्य के मार्ग पर चल रही हूँ। इतने पर भी कोई बदनामी करना चाहे तो करता रहे, किसी का मुँह थोड़ी ही पकड़ा जाता है। फिर मुझे शरम किस बात की है, न तो मुझे मायके की परवाह न ससुराल की। मुझे तुम्हारे कुँवर जी से भी कुछ लेना नहीं है। मुझे तो गोविन्द भगवान मिल गये हैं और रैदास जैसे सन्त महात्मा गुरु के रूप में मिल गये हैं।

ये पद मीरा की मनोव्यथा और निर्भिकता को प्रकट कर रहे हैं। इनकी रचना इस झगड़े के बहुत पीछे मीरा द्वारा

हुई होगी। किन्तु यह है आपबीती, यह कोरी कल्पना मात्र नहीं है।

इस प्रकार के ये भगड़े सास-बहू में प्रायः रोज ही होते। कुँवर भोजराज भी संसारी ही पुरुष थे। वे राजकुमार थे, युवक थे। मीरा शास्त्रानुसार उनकी धर्मपत्नी थी। उसके द्वारा सांसारिक सुख और संतति की इच्छा भी कुँवर भोजराज को हुई ही होगी, किन्तु मीरा ने उनसे भी कह दिया—आपका मैं हृदय से आदर करती हूँ, आपके लिये मेरे मन में उच्च भाव है। किन्तु मेरा पति रूप से सम्बन्ध तो गिरिधर गुपाल जी से ही हो चुका है। मैं उन्हीं की चेरी बन चुकी हूँ। आप मुझसे किसी भी प्रकार की सांसारिक आशा न रखें।”

युवराज बुद्धिमान थे, गुणग्राही थे, फिर परम भक्त-मती-साध्वी मीरा का आत्मबल प्रभुप्रेम और उसकी मञ्जी लगन भी तो उसके चेहरे से फूट-फूटकर निकलती रहती थी। कुँवर भोजराज जी ने मीरा से सांसारिक सुख की आशा एक दम छोड़ दी। यही नहीं, हृदय से मीरा के प्रति श्रद्धा-भक्ति प्रकट करने लगे। उन्होंने अपना परम सौभाग्य समझा कि ऐसी परमभक्त प्रभुपरायण नारी से मेरा सम्बन्ध हुआ। मीरा के लिये उन्होंने महल में ही एक सुन्दर मन्दिर बनवा दिया और मीरा की आज्ञा लेकर उन्होंने दूसरा विवाह भी कर लिया।”

अब तो मीरा एकान्त में निरंतर प्रभु प्रेम में ही मस्त रहने लगी। वह पैरों में धुँधरू बाँधकर हाथ में करताल लेकर अपने प्राणेश्वर देवता के सामने विरह-वेदना के स्वरचित पद गाती हुई नाचने लगी। उसका भाव विचित्र था। वह कभी जोरों से रोती, कभी हँसती, कभी अपने रूठे हुए स्वामी को मनाती।

कभी स्वयं भी मान का अभिनय दिखाती। वह दिन रात अपने आराध्यदेव, हृदयरमण, प्राणेश्वर श्री गिरिधरलाल की ही स्मृति में पगली बनी बैठी रहती थी। उसके सभी काम उन ब्रजराजकुमार को रिझाने के ही लिये होते थे। २०।२२ वर्ष की वह अनिन्द्य भोलीभाली बालिका अपने अलौकिक स्वामी के ही आगमन के सपने देखती रहती। वे भक्तवत्सल प्रभु तो सब की भावनानुसार इच्छापूर्ति करते हैं। अपने प्राणप्यारी सुकुमारी मीरा को विरह विकल देखकर वे उसके पास स्वप्न में आते भी थे। आँख खुलते ही मीरा जब उन्हें अपने पास न पाती तो रोते रोते विकलता के साथ अपनी सखियों को सुनाती और जागने के कारण पछताती हुई कहती—

सोवत ही पलका में मैं तो, पलक लगी पल में पिउ आये ॥१॥
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कू, जाग परी पिवडूँ द न पाये ॥२॥
और सखी पिउ सूत गमाये, मैं जू सखी पिउ जागि गमाये ॥३॥
आज की बात कहा कहुँ सजनी; सुपना में हरिलोते बुलाये ॥४॥
वस्तु एक जब प्रेम की पकरी, आज भये सखि मन के भाये ॥५॥
वो माहरो सुने अरु गुनि है, बाजे अधिक बजाये ॥६॥
मीरा कहे सत्त कर मानो, भक्ति मुक्ति फल पाये ॥७॥

बाई ! भला इसमें संदेह ही किसे है ?

सम्बन्धियों से विछोह

नैकत्र प्रिय संवासः सुहृदां चित्र कर्मणाम् !

श्रोत्रेण न्यूह्यमानानां ह्रवानां स्रोतसो यथा ॥*

इस असार संसार में कितने प्राणी नित्य प्रति जन्म लेते हैं और मरते हैं। मरना जीना यह तो प्रकृति का स्वभाव है। जो जन्म लेता है उसकी मृत्यु ध्रुव है और जो मरता है उसका जन्म निश्चित है, किन्तु अमर वही है जिसकी कीर्ति स्थिर हो। कूआँ, तालाब, मंदिर बनवाने से भी थोड़े दिन कीर्ति रहती है, किन्तु अस्थिर पदार्थों की कीर्ति अस्थिर और अस्थायी ही होती है। जो समग्र ऐश्वर्य की, समस्त कीर्ति की, समस्त यश

*भिन्न भिन्न प्रकार के जीव चित्र विचित्र कर्म करने वाले हैं ऐसे प्यारे सगे-सम्बन्धियों का सदा एक साथ बने रहना सर्वथा असम्भव है। जिस प्रकार नदी के प्रवाह में बहुत से तृण काष्ठसंयोग से इकट्ठा हो जाते हैं और फिर स्वतः ही अलग भी हो जाते हैं उसी प्रकार संसारी सम्बन्धियों का संयोग-वियोग है।

की एक मात्र खान है, उन नंद नंदन से जिन्होंने सम्बन्ध जोड़ लिया उसी का जन्म यथार्थ है, उसी का सम्बन्ध सच्चा है बाकी और सब झूठे हैं, बन्धन के हेतु हैं। परिजनों के विछोह से सर्वस्व के नष्ट हो जाने पर प्रायः सभी को इस क्षणभंगुर संसार से विराग होता है। किसी का विराग क्षणिक होता है और किसी का स्थाई बन जाता है। मीरावाई को भी अपने इस छोटे से जीवन में अपने सभी सगे-सम्बन्धियों का वियोग सहना पड़ा।

जिस जननी ने उन्हें जन्म दिया था, उसके वात्सल्य-प्रेम को ये अधिक दिन न प्राप्त कर सकीं। माता बाल्यकाल में ही इस असार संसार से चल बसी। इनके पिता तो एक वीर लड़ाकू क्षत्रिय राजपूत ही थे। उन्हें युद्धों से ही अवकाश नहीं था। अतः इन्होंने पितृ-प्रेम को अपने पितामह दूदा जी की गोद में प्राप्त किया। दूदा जी परम वैष्णव थे, उन्हीं की गोद में मीरा का बाल्यकाल बीता और उन्होंने ही इनके कृष्ण-प्रेम को पल्लवित-पुष्पित बनाया। दूदा जी को मीरा से बड़ी २ आशायें थीं, वे अपनी पौत्री को राजरानी देखना चाहते थे, किन्तु कुटिल काल ने उनकी इच्छा के विरुद्ध आचरण किया। मीरा बाल्य चपलता को छोड़कर धीरे-धीरे किशोरावस्था में पदार्पण कर रही थी कि इसके पालक पितामह भी इस संसार से सदा के लिये चल बसे। इससे मीरा को इस संसार की क्षणभंगुरता का अनुमान होने लगा।

विवाह हुआ, मीरा राजरानी बन कर मेड़ता के महलों को छोड़ कर चित्तौड़ आई, वहाँ उसे ऐसा कोई नहीं मिला जो इसके दर्द को जानता हो। इनके पतिदेव कुंवर भोजराज ने इनकी गहरी कसक का अनुभव किया और वे इनके ऊपर

श्रद्धा करने लगे। मीरा का भी उनसे प्रेम था। वे मीरा की सभी इच्छाओं को पूर्ण करना चाहते थे; किन्तु यह संयोग भी स्थायी न रह सका। जब वह युवावस्था में पदार्पण कर रही थी और उस अवस्था के सुख-स्वप्नों में अपने प्राणाधार गिरिधर लाल जी के साथ भाँति-भाँति को प्रेम-क्रीड़ाओं का अभिनय करती थी, उसी समय उसके संसारी पति कुँवर भोजराज जी भी धराधाम को त्यागकर परलोक वासी बन गये। मीरा को एक ठेस लगी, मीठी सी कसक पैदा हुई और सहसा उसके मुख से ये शब्द स्वतः ही निःसृत पड़े—

ऐसे वर को के वरूँ जो जन्मे और मर जाय।

वर बरिये गोपाल जी म्हारो चुड़लो अमर हो जाय।

पति की मृत्यु के बाद मीरा का वैराग्य और भी बढ़ गया। वह सदा अपने गिरिधर नागर के सामने ही नाचती गाती और रोती रहती थी। अपने प्यारे प्रियतम के प्रेम में कभी हँमती, कभी रोती, कभी मस्त होकर गाने लगती।

वह समय ही और था, क्षत्रिय अपनी अंतिम वीरता का आदर्श संसार के सामने उपस्थित करने के लिये तुले हुए थे। आये दिन रोज ही मुसलमान शासक हिन्दू महाराजाओं पर चढ़ाई करते और उन्हें अपने अधीन बनाने के लिये सभी प्रकार के प्रयत्न करते। उन दिनों में पूर्व से पश्चिम तक उत्तर से दक्षिण तक चित्तौर की ही वीरता का मंडा फहरा रहा था। मीराबाई के श्वसुर महाराणा संग्रामसिंह या राणा सांगा उस समय के अद्वितीय योद्धाओं में से थे। यवन सम्राटों ने उस पुरुषसिंह को अपने पिंजड़ों में फँसाने के लिये भाँति २ के प्रयत्न किये, किन्तु वे सभी उसके सामने असफल रहे। इन्हीं

१७-१८ बड़े बड़े युद्ध किये और ये सभी में विजयी हुए। दिल्ली के बादशाह बाबर की छाती में तो ये शूल के समान सदा चुभते रहते थे। कई बार उसने इनसे लड़ाई की और इनकी बीरता के सामने उसे भागना पड़ा।

सं० १५८५ में बाबरने फिर महाराणा सांगा के ऊपर चढ़ाई की। फतहपुर सीकरी के पास वयाना में बड़ा भारी युद्ध हुआ। बाबर की सेना में भग दौड़ मच गई। शाही सिपाही अपनी २ जान लेकर भागने लगे। बाबर ने महाराणा से संधिकरने का भी प्रस्ताव किया, किन्तु महाराणा ने उसे अस्वीकार करा दिया। महाराज की ओर से भिलसा, डूंगरपुर, चंदेरी, बूंदी, गागरोन, ईडर, जोधपुर, बीकानेर, अम्बेर देवरिया आदि राज्यों के भी असंख्यो क्षत्रिय वीर थे। मेड़ता वीरों में मीराबाई के पिता रावरतन सिंह जी भी थे। इस युद्ध में महाराणा की बहुत अधिक क्षति हुई। इनके बहुत से चुने हुए वीर सरदार इस में काम आये। मीराबाई के पिता राठौर रतन-सिंह ने भी इसी युद्ध में वीर गति पाई। वे सन्मुख युद्ध में लड़ते लड़ते अपने नश्वर शरीर को त्यागकर सूर्यमण्डल को भेदकर उन लोकों में गये जहाँ योग-युक्त परिव्राजक और युद्ध में प्राण त्यागनेवाले वीर जाते हैं।

इसी युद्ध में महाराणा सांगा के मस्तक में भी एक जहरीला बाण लगा और उसके लगने से वे बेहोश हो गये। सरदार उन्हें हाथी से उतार कर पालकी में रखकर सुरक्षित स्थान पर ले आये। महाराणा की जब बेहोशी दूर हुई तब उन्हें सब बात मालूम हुई। उस वीर क्षत्रिय को इस पराजय पर महान क्लेश हुआ। उन्होंने सभी से मिलना-जुलना छोड़ दिया और चुपचाप उदास होकर अन्यमनस्क भाव से रणथंभोर के किले

में रहने लगे। कोई उन से मिल भी नहीं सकता था। एक चारण की उत्तेजना पूर्ण कविता सुनकर राणा ने फिर एकबार बाबर से लोहा लेने का निश्चय किया, किन्तु उनके मन्त्री इस मत के विरुद्ध थे। महाराणा भला युद्ध से कब हटने वाले थे। कहते हैं, उन दुष्ट नमकहरामों ने षड़यन्त्र रचकर महाराणा के प्राण हर लिये। मीराबाई के श्वसुर संसार के प्रसिद्ध वीर, क्षत्रियों के मूर्तिमान यश यश राणा सांगा हँसते २ अपने प्राणों को त्याग कर वीर गति को प्राप्त हुए।

मीराबाई के पति कुंवर भोजराज तो पिता की मृत्यु के पूर्व ही इस संसार से चल बसे थे। महाराणा के दूसरे पुत्र करनसिंह भी इसी समय संसार से विदा होगये। इस प्रकार मीरा ने अपनी २० वर्ष की ही अवस्था में माता, पिता, पितामह, पति, श्वसुर, देवर आदि सभी को अपने से सदा के लिये अलग होते देखा। इन परिजनों के मृत्यु से उसके भावमय कोमल हृदय में 'संसार अनित्य है' इसका एक जोरदार तूफान उठने लगा। उसकी भाव-भक्ति और भी अधिक बढ़ गई।

महाराणा सांगा के पश्चात् उनके तृतीय पुत्र कुंवर भोजराज के सगे भाई रतनसिंह जी चित्तौड़ के सिंहासन पर विराजमान हुए। लगभग ४ वर्ष तक इन्होंने मेवाड़ के सिंहासन को सुशोभित किया। इनके राज्य काल में मीरा को किसी प्रकार की शिकायत नहीं हुई। मीरा बाई के ये छोटे देवर थे, उन्होंने संभवतया मीराबाई के भजन-पूजन में किसी प्रकार का विक्षेप नहीं डाला।

महाराणा सांगा की एक रानी उनकी मृत्यु के समय गर्भवती थी, इससे वे अपने पति के साथ सती न हो सकीं, पीछे

उन्हीं के उदर से उदयपुर के संस्थापक राणा उदयसिंह का जन्म हुआ ।

राणा रतनसिंह भी अल्प आयु में ही चल बसे । ४-५ वर्ष राज्य करने के अनंतर ही उनका परलोकवास हो गया । रतन सिंह के बाद उनके सौतेले भाई विक्रमादित्य चित्तौड़ के महाराणा हुए । इन्होंने ही सती-साध्वी मीराबाई को भाँति २ की यातनायें दीं, जिन्हें पाठक आगे पढ़ेंगे ।

अब मीराबाई का सगा-सम्बन्धी कौन था । वैसे तो पहिले भी वह कहती थीं 'मेरे तो गिरधर गुपाल दूसरा न कोई' किन्तु अब तो यह सत्य एक दम प्रत्यक्ष हो गया, अब सिवाय गिरधर लाल के उसका कौन था । इसी लिए उसने बड़े ही करुणा-पूर्ण शब्दों में अपने सच्चे स्वामी के सामने प्रेम विभोर होकर गाया था—

अब तो निभायों बनेगा, बाँह गहे की लाज ।

समरथ सरण तुम्हारी साइयां सरब सुधारण काज ॥१॥

भव-सागर संसार अपरबल, जामें तुम हो जहाज ।

निरधारा आधार जगत गुरु, तुम बिन होंय अकाज ॥२॥

जुग जुग भीर करी भक्तन की, दीन्हीं मोच्छ समाज ।

मीरा सरण गही चरणन की, पेज रखो महाराज ॥३॥

राणा का कोप

असाधवोऽपि ते धन्या यतः सदुपकारिणः ।

क्लेशाग्नि तापे सन्ताप्य शोधयन्ति महात्मनः ॥

संसार में अच्छे-बुरे, निंदक-प्रशंसक, देवता, असुर सदा से होते आये हैं और सदा रहेंगे । यदि महात्मा के साथ खल पुरुष न हो तो महात्माओं का महत्व प्रकट ही कैसे हो । यदि वीणा में आघात करने वाला न हो तो उसकी सुरीली तान पर श्रोता मुग्ध कैसे हो सके । बहुत से दुष्ट लोग भी तो साधुओं का वेष बना लेते हैं । यदि खल और निंदक उन्हें परीक्षा-रूपी अग्नि में तपा कर उनकी परीक्षा न किया करें तो पता ही कैसे चले कि यह सच्चा भक्त है और यह बगुला भक्त है । आसुरी प्रकृति के लोग

वे दुष्ट पुरुष भी धन्य हैं जो महात्माओं को क्लेश पहुँचाते हैं, क्योंकि वे दुःख रूपी अग्नि में सुवर्ण रूपी महात्माओं को तपाकर उन्हें विशुद्ध और उज्ज्वल बनाते हैं, वे उन महात्माओं के अपकारी न होकर उपकारी ही हैं ।

महात्माओं के धैर्य, विश्वास, प्रेम तथा महानता के परीक्षक हैं। निंदक से बढ़कर उपकारी कौन होगा जो बिना मतलब के अपने सिर पाप लेता है, बुरा बन के भी जनता के सन्मुख महत्ता प्रकट करता है। अतः खलों के क्लेश और निंदक एक प्रकार की प्रज्वलित अग्नि हैं। बनावटी तो उसके समीप जाते ही जल जाता है, शुद्ध सुवर्ण में भी यदि थोड़ा बहुत मल हो तो उसे असंतों की निंदा रूपी अग्नि जलाकर विशुद्ध बना देती है। अतः साधुओं की ही तरह असाधु भी बन्दनीय हैं। महा-पुरुषों के साथ वे भी अमर हो जाते हैं; जैसे प्रह्लाद के साथ हिरण्यकशिपु, श्रीराम जी के साथ रावण, श्रीकृष्ण के साथ कंस, युधिष्ठिर के साथ दुर्योधन अमर हैं, उसी प्रकार बाई मीरा के साथ राणा विक्रमाजीत सिंह भी अमर हैं। जैसे कबीर साहब की टेक है, 'कहत कबीर सुनो भाई साधो।' इसी तरह मीरा के बहुत से पदों में राणा को सम्बोधन है। मीरा के गुजराती, पंजाबी, मारवाड़ी और हिन्दी पदों के साथ राणाजी का अविच्छिन्न सम्बन्ध है। उनकी प्रतारणाओं और यातनाओं ने ही मीरा को इतना ऊँचा उठा दिया। इन्हीं सबसे ऊँचकर वह एक मात्र अपने पूरणपति गिरिधर लाल को ही सब कुछ समझने लगीं।

राणा विक्रमाजीत की खलता इतिहास-प्रसिद्ध है। इसके आचरणों से न तो पूजा ही प्रसन्न थी और न सरदार तथा मंत्री ही सन्तुष्ट थे; इसने अपनी करनी का उचित फल पाया और बनवीर के हाथों बुरी तरह मारा गया। उसकी दुष्टताके ही कारण किसी ने उसकी मृत्युका विरोध नहीं किया। वह जब तक जीता रहा दुष्टता ही करता रहा।

दुष्ट पुरुषों की प्रकृति होती है कि जिसे वे अपने लिये ठीक समझ लेते हैं, उन्हें पूरा करने के लिये सभी प्रकार के उपायों को काममें लाते हैं, फिर उनके सामने उचित-अनुचित का प्रश्न ही नहीं रहता। 'बस' उन्हें यही एक धुन सवार रहती है, कि हमारा मनचीता काम होना चाहिये। वे अधर्म को ही अपना धर्म मानकर बर्ताव करते हैं, 'अधर्म-धर्म' मितिवा मन्यते तमसावृता।'

सभी सगे-सम्बन्धियों के मरने से मीरा की भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। वह पहिले तो घर में ही अपने मंदिर में पूजा पाठ करती थी; ज्यों ज्यों उनके भक्ति-भाव की चर्चा चारों ओर फैलने लगी त्यों त्यों भावुक नर-नारी उनके दर्शनों के लिये आने लगे। साधुसंत तो प्रेम-भाव के भूखे होते हैं, यदि उन्हें किसी प्रेमी का पता चल जाय तो जैसे मधुर मधु के लिये देश-विदेश से बहुत से मधुप आ-आकर इकट्ठे हो जाते हैं, उसी प्रकार साधुसंत भी प्रेमके पागल के पास टूट पड़ते हैं। मीरा के मंदिर में साधुओं की मंडलियाँ आने लगीं। बहुत से तो उस प्रेमोन्मादिनी की मस्ती को देखने आते, बहुत से उसके अद्वितीय पदों के ही प्रलोभन से आते, बहुत से उसके अलौकिक गायन तथा नृत्य से ही मन्त्र-मुग्ध बन जाते और बहुत से इसी आशा से चले आते कि वहाँ चलने पर बढ़िया २ माल खाने को मिलेंगे। मीरा बाई की ओर से सभी का यथोचित सत्कार भी होता और वह साधु-मंडली को देखकर अपने को कृत-कृत्य मानती, आनन्द में विभोर होकर उनकी पदधूलि माथे पर चढ़ाती।

विक्रमाजीत को यह बात बुरी लगी। उन दिनों साधु-संत आजकी तरह ठुकराये नहीं जाते थे, जनता पर उमका प्रभाव

भी था, आतंक भी था। साधुओं की मंडलियाँ जहाँ पहुँच गई, सरकारी अधिकारियों से भी अधिक नगर-निवासियों को उनकी चिंता हो जाती। राजा हो चाहे महाराजा, जिसने साधुओं से विरोध किया वह जनता की दृष्टि में गिरजाता था। इससे विक्रमाजीत साधुओं को राज्य में न आने देने की आज्ञा तो न दे सके, किन्तु उन्हें यह बात बहुत ही बुरी लगती। अपनी महल की रानी को इस तरह बेपर्दा होकर खुल्लम-खुल्ला सभी से मिलना उन्हें बहुत ही बुरा लगा। उन्होंने इसे अपने कुल के लिये कलंक समझा। सभी उपायों से मीरा को सुधारने की, उसे सत्पथ पर लाने की चेष्टा की गई। राणा ने अपनी पूरी शक्ति लगा दी, किन्तु वह कच्चा रंग तो था ही नहीं जो पत्थर पर पछाड़ने से या अग्नि की भट्टी पर चढ़ाने से छूट जाय। वह तो सूरदास की काली कमली थी, उस पर दूसरा रंग चढ़ ही कैसे सकता था।

“सूरदास की काली कमलिया, चढ़ै न दूजो रंग।”

राणा ने मीरा के सुधार के लिये साम, दाम, दंड, भेद आदि सभी उपाय किये। पहिले तो उसने दो विश्वसनीय सखियों को मीरा के पास रख दिया जो उसे हर समय समझाती रहें कि एक राजवंश की सम्भ्रान्त रानी को ऐसे आचरण रखने ठीक नहीं हैं, किन्तु वे असमर्थ रही; असफल हुई। यही नहीं किन्तु वे भी मीरा के रंग में रँग गईं। तब राणा ने अपनी ऊदावाई नामक किसी बहिन को भेजा। उसने भाँति भाँति से मीरा को ऊँचा-नीचा समझाया, भय दिखाया, महाराणा का प्रभाव बताया किन्तु “राम नाम जपतां कुतोभयम्” भगवान का भजन करने वाले को भय कहाँ। मीरा नहीं मानी। मीरा स्वयम् कहती हैं—

मीरा सूँ राणा ने कही रे, सुण मीरा मोरी बात ।
 साधो की संगत छोड़ दे रे, सखियाँ सब सकुचात ॥
 मीरा ने सुन यों कही रे, सुन राणा जी बात ।
 साध तो माई बाप हमारे, सखियाँ क्यूँ षबड़ात ॥

इसी तरह ऊदाबाई ने भी अपनी तरफ से तथा राणा की तरफ से ये बातें कहीं । जब बहुत समझाने-बुझाने पर भी मीरा नहीं मानी तो ऊदाबाई ने कहा—

थाँ ने बरज बरज मैं हारी, भाभी मानो बात हमारी ॥
 राखे रोस कियो थाँ ऊपर, साधों में मत जारी ।
 कुल को दाग लगे छै भाभी, निन्दा हो रही भारी ॥१॥
 साधो रे संग बन गन भटको, लाज गुमाई सारी ।
 बड़ा घरा ये जनम लियो छै, नाचो दै दै तारी ॥२॥
 बर पायो हिंद वाणें-सूरज, थे कोई मन धारी ।
 मीरा गिरधर साध सङ्ग तज, चलो हमारी लारी ॥३॥

मीरा बाई रनिवास में जहाँ बहुत सी रानियाँ रहती थीं, उस जगह न रहकर सब से एकान्त में अपने गिरिधर लाल जी के मन्दिर में ही रहा करती थीं । संभवतया वे महलों में सब के साथ जाकर रानियों से मिलती भी नहीं थीं । यदि कहीं राजधानी के आस-पास साधु सन्तों का आगमन सुनती हों तो संभवतया दर्शनों के लिये चली भी जाती रही होंगी । इन्हीं सब बातों को ऊदाबाई ने बहुत बुरा बताया है । इस पर मीरा ने कहा—

मीरा बात नहीं जग छानी, ऊदाबाई समझो सुघर सयानी ।
 साधू मात पिता कुल मेरे, सजन सनेही शानी ।
 सन्त चरन की सरन रैन दिन, सत्त कहत हूँ बानी ॥

राणा ने समझावो जावो, मैं तो बात न मानी ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, सन्तो हाथ बिकानी ॥

मीरा ने कहा—“यदि मैं छिपकर डरते-डरते ऐसा आचरण करती तो भय की बात थी । यह तो जग में जाहिर है कि मैं जो भी करती हूँ सबके सामने करती हूँ, खुलकर खेलती हूँ इसलिये तुम राणा से कह दो, साधु तो मेरे प्राण हैं उनके बिना मैं कैसे जी सकती हूँ । इसपर उदावाँई ने फिर कहा—

भाभी बोलो वचन बिचारी ।

साधो की सगत दुख भारी, मानों बात हमारी ।

छापा तिलक गल हार उतारो, पहिरो हार हजारी ॥

रतन जड़ित पहिरो आभूषण, भोगो भोग अपारी ।

मीरा जी थें चलो महल में, थाँ ने सोगन म्हारी ॥

उदावाँई ने अपनापन दिखाया, प्रेम प्रदर्शित किया । विषय सुख और बहुमूल्य वस्त्राभूषणों का भी लोभ दिया । मतलब यह कि एक नारी जिन प्रलोभनों में फँसकर संसारी बन सकती है वे सभी उपाय किये, किन्तु मीरा ने साफ कह दिया—

भाव भगत भूषण सजे, सील सतोष सिंगार ।

आँदी चूनर प्रेम की, गिरधर जी भरतार ॥

उदावाँई मन समझ, जाओ अपने धाम ।

राज पाट भोगो तुम्हीं, हमें न ताखूँ काम ॥

इन उत्तरों में कितनी निर्भयता है, कितनी एकनिष्ठता है, भय का तो नाम नहीं । मीरा के महान् और महान्तम पावन हृदय के ये भाव हैं । इन पदों की रचना पीछे से संभव है मीरावाँई ने की हो या किसी दूसरे ने ही की हो ।

इन शब्दों में, पदरचनाओं में शंका हो सकती है, किन्तु इस बात में तो अगुमात्र भी संदेह नहीं, कि ये भाव बाई मीरा के अन्तस्तल के हैं। इनमें उसका हृदय है, उसके कलेजे की कसक है और उसका अदम्य साहस है। एक ओर तो मेवाड़ का राजा जो बातकी बात में सभी प्रकार के अनर्थ कर सकता है और दूसरी ओर मातृ-पितृ-विहीन एक विधवा युवती। वह भी राणा के ही अधीन रहने वाली, किन्तु उसे तो दृढ़ नहीं दृढ़तम विश्वास था कि 'म्हारे सिर पर सालिगराम, राणा जी म्हारे काई करसी'। सचमुच जिसके सिर पर सालिगराम हैं उसके सामने सारा संसार भी कुछ नहीं कर सकता। 'जाको राखे साड्यौ, मारि न सकिहैं कोय।' सो मीरा को तो एक मात्र उसीका भरोसा था जो सभी बलों का बल है, जिसके पीछे प्रह्लाद अग्नि में भी न जल सका।

राणा ने बहुत सी चेष्टायें कीं, स्वयं सब प्रकार से समझाया, किन्तु मीरा की समझ तो उलटो हो गई थी, उसे तो ये बातें विपरीत दिखाई देती थीं। जब राणा ने सीधी तरह से समझाने से नहीं माना, बार २ वह हठ ही करने लगा तब मीरा ने निर्भय होकर कह दिया—

अब नहिं मानूँ राणौ थारी, मैं वर पायो गिरधारी ।
 मनि कपूर की एक गति है, कोऊ कहो हजारी ।
 ककर कचन एक गति है, गुंज मिरच एक सारी ॥
 अनङ्ग षणी कों सरणो लीनो, हाथ समिरनी धारी ।
 जोग लियौ तब क्याँ दिलगीरी, गुरु पाया निज भारी ॥
 साबू संगत यह दिल राजी, भाई कुटुम्ब सूँ न्यारी ।
 क्रोड़बार समभावो मोकूँ, चलूँगी बुद्ध हमारी ॥

राणा का कोप

६१

स्तन जड़ित को टोपा सिर पै, हार कंठ को भारी ।
चरण घूंघरू धमस पड़त है, म्हेँ कराँ स्याम सूँ यारी ॥
लाज सरम सब ही मैं डारी, यौतन चरण अधारी ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, भख मारो सतारी ॥

विष अमृत बन गया

श्रीरामनामामृत बीज रूपा

संजीवनी चेन्मनसि प्रविष्टा ।

हालाहल'वा प्रलयानल' वा

मृत्योर्मुख' वा विशतां कुतो श्रीः ४*

जब हम किसी गंभीर विषय पर बातें करते हैं, तो तर्क करते हुए कह देते हैं—‘यह संभव हो सकता है ।’ दूसरे विषय पर कहते हैं—‘अजी, यह तो एक दम असंभव है ।’ संभव के मानी हैं, ‘यह घटना प्रकृति राज्य में घट सकती है’ असंभव के माने हैं, ‘यह घटना प्रकृति राज्य में घट सकती है ।

*श्री रामनामामृत बीज रुपिणी जो संजीवनी है, यदि वह किसी तरह मनमें प्रवेश कर जाय तो फिर हालाहल विष पी जाइये, प्रलय की बषकती हुई अग्नि में घुस जाइये या मृत्यु के मुख में प्रवेश कर जाइये, वहाँ तो बरका कोई काम ही नहीं । भय का तो वहाँ नाम भी नहीं ।

असम्भव के माने हैं' 'इस घटना का घटित होना प्राकृतिक नियमोंके विरुद्ध है, किन्तु जो प्रकृति से परे पहुँच गये हैं, जो प्राकृतिक नियमों का अतिक्रमण कर गये हैं, उनके लिये 'असंभव' कुछ भी नहीं।

श्री भगवान तो सर्व समर्थ हैं, तो 'कर्तुम कर्तुमन्यथा कर्तुम्' कहे जाते हैं, उनके राज्य के कोष में 'असंभव' शब्द ही नहीं। उनके लिये सब संभव है। इसके एक नहीं अनेक प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। पूरुषाद, द्रोपदी की कथायें पुरानी हैं, अभी हाल में ही एक बड़े राज्य के ६०-६५ वर्ष के राजकुमार ने १०० वर्ष के अपने पिता को राज्य के लोभ से भगवानके पूसादी दूध में जहर दिला दिया। देते समय पुजारी जब काँपने लगा और महाराज ने डाँटकर पूछा तो उसने सब कुछ सच २ बता दिया। इतने पर भी भगवत् पूसाद का अपमान न हो; जो पूसाद हो चुका है उसका तिरस्कार न करना चाहिये। 'यह सोचकर वे पी गये और उनका बाल भी बाँका न हुआ। अंत में पुत्र को राज देकर वे भगवत् भजन में तल्लीन हो गये। जिसने अपना सर्वस्व उन अन्तर्यामी प्रभुको बना रखा है जिनकी इच्छा भक्तको जीवित रखने की है, उसका साक्षात् यमराज भी कुछ नहीं कर सकते। बाई मीरा के जीवन में भी ऐसी ही अनेक घटनायें घटी।

राणा के सिर पर तो कुल-प्रतिष्ठा का भूत सवार था। वह तो किसी तरह भी मीरा को अपनी आज्ञा में चलाने के लिये उतावला बना हुआ था। जब उसकी सभी चेष्टायें विफल हुईं तो, वह चिन्तित हुआ। दुष्टों के सलाह-कार भी दुष्ट ही होते हैं। भले मंत्रियों की वहाँ प्रतिष्ठा ही कहाँ! जो उनकी हाँ में हाँ मिलावे वही अच्छा और जो न्यायका पक्ष लेने वाला हो

उसको कान पकड़कर बाहर करो यही पुरस्कार है। जब राणा मीरा के कारण दुखी और चिंतित रहने लगा तो उसको मंत्रियों ने सलाह दी—‘महाराज, आप एक स्त्री से इतना क्यों घबड़ाते हैं, भला यह भी कोई बात है। एक तो वह विधवा है, कोई संतान भी उसके नहीं। कुल-मर्यादा के विरुद्ध आचरण करती है, ऐसी हालत में उसे जहर देकर सब भगड़ा ही क्यों नहीं मिटा देते। न रहेगा बाँस, न बजेगी बांसुरी’ ‘हरा लगे न फिटकरी रँग चोखा ही आवे।’ चरणामृत के नाम से जहर भेजिये, चरणामृत समझकर वह पी ही जायगी और उसे पीते ही मर जायगी।’

राणा को यह सलाह पसंद आई। उसने यह काम अपने किन्हीं विश्वासपात्र दयाराम नामक व्यक्ति के सुपुर्द किया। वह जहर का प्याला लेकर मीरा के यहाँ आने लगा।

उदाबाई जो मन से मीरा की भक्त बन चुकी थी दौड़ी-दौड़ी मीरा के पास गई और जाकर उसने कहा—

भाभी ! राणाजी कियो है थारे पर कोप,
रतन कटोले विष घोलियो।

मीरा सुन कर हँसी और बड़े ही स्नेह के साथ अपनी ननद से बोली—

बाई ऊदा ! घोल्यो तो घोलण दो,
कर चरणामृत वाही मैं पीवस्यो।

दयाराम आये और उन्होंने काँपते हाथों से लड़खड़ाती हुई वाणी से ‘चरणामृत’ कहकर सुवर्ण का कटोरा मीरा के हाथ में दिया। मीरा मुसकराई। उसने कटोरा माथे पर चढ़ाया, चरणामृत को सीस नवाया और बड़े ही स्नेह भरे स्वर में गाया—

सीसोद्या राणो प्यालो म्हाँने क्यूँ रे पठायो ।
 भलो बुरी तो मैं नहिँ कीन्हीं, राणा क्यूँ है रिसायो ।
 थाँने म्हाँने देहदिवी है, ज्याँ री हरिगुण गायो ॥१॥
 कनक कटोरे ले विष घोल्यी, दयाराम पंडो लायो ।
 अठी उठी तो मैं देख्यो, कर चरणामृत पायो ॥२॥
 आज काल की मैं नहि राणा, जद यह ब्रह्मंड छायो ।
 मेढ़तिया घर जन्म लियो है, मीरा नाम कहायो ॥३॥
 प्रह्लाद की प्रतिज्ञा राखी, खंभ फाड़ वेगो धायो ।
 मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर, जनको विड़द बढ़ायो ॥३॥

मीरा ने कहा—‘राणा ने जहर क्यों भेजा, जहर भेजने का तो कोई काम नहीं था । मैंने कोई कुकर्म किया होता जिससे कुल में कलङ्क लगता तब तो ऐसा आचरण ठीक भी था, मैंने तो यही किया है कि जिसने सम्पूर्ण संसार को रचा है उसी के गुणों को गाया है, उन्हीं अपने सच्चे स्वामी को रिभाया है । फिर चरणामृत के नाम से विष भेज कर राणा मुझे मारना चाहता है, यह कैसी भारी भूल है, भला अमृत से भी कोई मर सकता है ! कदाचित् कोई मर भी जाय तो वह मरेगा जो विनाशी होगा अशाश्वत होगा । मैं तो अपने अविनाशी शाश्वत स्वामी की अनन्तकाल की चेरी हूँ । मेरे पति तो ब्रह्मांडों के भी स्वामी हैं, भला मुझे जहर कैसे मार सकता है ! यह राणा की भूल है । कुछ भी हो जब उसने चरणामृत करके भेजा है, तब इसका तिरस्कार करना भी ठीक नहीं । मीरा ने गिरिधरलाल जी को मन ही मन प्रणाम किया और उस हला-हल विष को पान कर गई और पीकर निर्भय होकर बोली —

मीरा प्याला पी लिया रे, बोली दोड कर जोर ।

तैं तो मारण की करी रे, मेरो राखण हारो और ॥

सचमुच जहर ने अमृत का काम किया। मीरा उस चरणा-मृत को पीकर धन्य हो गई। जैसे अग्नि में तपने से सुवर्ण और भी अधिक तेजोमय बन जाता है, उसी प्रकार मीरा की मस्ती और भी अधिक बढ़ गई। वह उसी तरह अपने प्राणाधार प्रियतम के सामने गागाकर नाचती हुई अपनी पीर सुनाने लगी। सुनने वाले आश्चर्य में पड़ गये। सखी-सहेलियाँ मनही मन मीरा के चरणों में प्रणाम करने लगीं, उनकी श्रद्धा उस तपस्विनी के पाद-पद्मों में और भी बढ़ गई; किन्तु उस विक्रमाजीत को होश नहीं आया, उसके मन में यह बात नहीं समाई कि जो हलाहल विषको प्रेम-पूर्वक पीकर पचा गई वह साधारण महिला नहीं है, उसे मारने का उद्योग करना निरी मूर्खता है, किन्तु उसको बुद्धि तो भ्रष्ट हो चुकी थी। उसे तो कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान ही नहीं था। उसे क्या पता था कि मीरा, के हृदय में विष भरा तोक्षण तीर लग गया है और उस जहरीले बाण की चोट से वह स्वयं ही पगली बन गई है। अरे ना समझ! तू स्वयं अपनी ही लाज तो रखले तब मोरा की लाज की चिन्ता करना। जो जिसके आधीन रहता है उसी को उसकी लाज की चिन्ता होती है। मीरा की लाज वे ही गिरिधर गोपाल रखेंगे। इसी भाव को लक्ष्य करके मीरा ने गाया है—

राणा जी तै जहर दियो मैं जाणी ।

जैसे कंचन दहत अग्नि में, निकसत बारावाणी ॥१॥

लोक लाज कुल काण जगत की, दुइ बहाय पाणी ॥२॥

अपने घरका परदा करले, मैं अबला बौराणी ॥३॥

तरकस तीर लग्यो मेरे हियरे, गरक गयो सनकाणी ॥ ४॥

सब सन्तन पर तन मन वारो, चरण कमल लपटाणी ॥५॥

मीरा को प्रभु राख लई है, दासी अपणी जाणी ॥६॥



विपद्भंजन-गिरिधर लाल

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनं यत् स्यादपुनर्भवदर्शनम् ॥*

यह हमारी अज्ञानता है, अल्पता है, भूल है कि हम अपने निंदकों को, दुःख देने वाले खलों को अपना शत्रु समझते हैं। वे तो हमारे साधन में सहायक हैं। जब तक ढोल को खूब कसा न जायगा तब तक उसमें से सुन्दर शब्द कैसे निकलेगा। जब तक वीणा को लोहे की मिजराब से आघात न पहुँचाया

*हे जगत् गुरु, हमें निरन्तर विपत्तियों हीं प्राप्त होती रहें। हम पर बराबर खलों का कोप बना रहे। क्योंकि हे मेरे श्यामसुन्दर, उन विपत्तियों में तुम्हारा प्रत्यक्ष दर्शन तो होता है। तुम उन विपत्तियों के निवारणार्थ स्वयम् पधारते हो। जिसे तुम्हारा दर्शन हो गया फिर उसके लिये संसार रहा ही कहाँ। वह तो फिर संसार से परे हो जाता है। संसार का उसके लिए अदर्शन अर्थात् लोप हो जाता है।

जायगा तब तक उसमें से भंकार तथा स्वर-लहरी कैसे निकलेगी। वे हरि ही एक रूप से इस स्वाँग को रचते हैं। वे ही घड़ेवाले कुम्हार की तरह एक हाथ से तो कच्चे घड़े पर जोर से आघात करते हैं और दूसरे छिपे हुए हाथ से उस आघात को अपने ही हाथ पर सहन भी कर लेते हैं, जिससे वह कच्चा घड़ा मजबूत बन जाय; नहीं तो उनकी शरण आने वाले को भय कहाँ? विपत्ति कैसी? उसका भला कोई कुछ बिगाड़ सकता है? उससे कोई कुछ कह सकता है? चाहे सारा संसार ही बैरी क्यों न हो, उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता।

मीरा के लिये इतने उपाय किए गये। समझाने-बुझाने से नहीं मानी तो उसे जहर दिया गया। उसे भी वह प्रेम-पूर्वक पी गई, किन्तु उससे उसकी कान्ति और बढ़ गई। उसे और भी अधिक अपने साँवरे-सलोने पाणपति के ऊपर विश्वास जम गया। किन्तु राणा का कोप और भी बढ़ता ही गया।

उसने एक पिटारी में विषधर साँप बन्द करके मीरा के पास उपहार स्वरूप भेजा। सेवक ने वह पिटारा मीरा को दिया। मीरा तो प्रेम में मतवाली थी, वह सब स्थानों में पियतम को ही देखती थी; उसके लिये भेद भाव कहाँ; उसके अपने लिये शत्रु-मित्र उदासीन सभी एक थे। उसने बड़े ही प्रेम से वह प्रेमोपहार की पिटारी खोली। लाने वाले के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उसने देखा न उसमें साँप हैं, न उनका विषसे भरा हुआ तीव्र फण। उसमें तो सालिग्राम की मनोहर मूर्ति है और दिव्य गंध से युक्त सुन्दर सुन्दर हार उनके चारों ओर लिपटे हैं। मीरा ने अपने हृदयधन को

उठाकर छाती से चिपटाया और उनका पूसादी हार पहिन कर सम्पूर्ण महल में पूर्णिमा का सा प्रकाश फैला दिया। उसने जाकर ये बातें राणा से कहीं, किन्तु उसे फिर भी विश्वास नहीं हुआ।

प्राचीन काल में एक प्रकार की सूल सेज होती थी ! उसके नीचे तीक्ष्ण काँटे होते थे, जो सभी जहूर में बुझे होते थे। उस-पर सोने से और उस जहूर के असर से सोने वाला स्वतः ही मर जाता था। राणा ने उसे भी मीरा के लिये भेजा। किन्तु जब हलाहल विष ही अपना कुछ प्रभाव न कर सका तो फिर वह 'सूल सेज' तो उस अमर देवी को मार ही क्या सकती थी ? मीरा को कुछ भी नहीं हुआ। वह शूल शैय्या उसके लिये फूल शैया जैसी हो गई। मीरा मगन होकर मदनमोहन के मद में मस्त होकर नाचती गाती रही।

राणा का तो इन घटनाओं से कोप बढ़ता जाता था, किन्तु मीरा की संगिनी सहेली तथा उदाबाई की भक्ति इन बातों से अधिकाधिक बढ़ती ही जाती थी। उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि मीरा के प्राणपति श्री गिरिधरलालजी प्रत्यक्ष प्रकट होकर मीरा की मनोकामना को पूर्ण किया करते हैं।

उदाबाई का अन्तःकरण भी पवित्र हो चुका था। वह श्री गिरिधर लालकी चेरी बन चुकी थी। एक दिन उसने अत्यंत ही स्नेह के साथ कहा—'भाभी। श्री गिरिधरलालजी की हमें तनिक माँकी का भी सौभाग्य सुख प्रदान होगा क्या ! अपनी तो इतनी ऊँची साधना नहीं, उतना प्रगाढ़ प्रेम नहीं, किन्तु तुम्हारे चरणों में सभी सम्भव हो सकता है। तुम कृपा करो तो हमारा भी यह जीवन सार्थक हो जाय।'।

मीरा बाई का भी ऊदाबाई के पूति हार्दिक स्नेह हो चुका था। उसकी करुणाभरी दीन बिनती सुनकर मीराने कहा—‘बाई ! मैं पूयत्न करूँगी, देखो वे श्याम-सुन्दर बड़े ही निर्मोही हैं। अस्तु; तुम उनकी पूजा का सामान ठीक करो।’ ऊदाबाई की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहा। दो अन्तरंग सहेलियों के सहयोग से पूजा की सभी सामग्री ठीक हो गई। मीराबाई ने अपने बिखरे बालों को सम्हाला, वह अपनी सुहाग की साड़ी ओढ़कर बैठ गई। उसके एक हाथ में करतार थी और दूसरे में तान पूरा। अत्यन्त ही अधीर होकर तन्मयता के साथ वह विरह और प्रेम भरे पद गागाकर अपने प्राणनाथ गिरिधर लाल जी को सुनाने लगी। कभी तो उसका गला भर जाता, कभी कंठ भराने लगता। वह अधीर होकर झुक-झुक जाती, लोट-पोट हो जाती। दोनों आँखों से अश्रुओं की अविरल दो धारायें बह रही थीं। उन नयनों के नीर से उसकी छाती भीग गई, साड़ी सराबोर हो गई; किन्तु श्याम अभी आये नहीं। पता नहीं वे अपनी प्यारी को इतना क्यों रुलाते हैं ? रुलाने में इतना सुख उन्हें क्यों है ? तब उसने अत्यन्त ही दीनता के साथ यह पद गाया—

प्यारे दरसण दीज्यो आय, तुम बिन रह्यो न जाय।

जल बिन कवल चन्द बिन रजनी, ऐसे तुम देख्यो बिन सजनी ॥

व्याकुल व्याकुल फिरँ रैन दिन, विरह कलेजों खाय ॥१॥

दिवस न भूख नींद नहिं रेणा, मुख स कहत न आवै वैणा ॥२॥

कहा कहूँ कुछ कहत न आवै, मिलकर तपत बुझाय ॥२॥

क्यूँ तरसावों अन्तरयामी, आय मिलो किरपा कर स्वामी ॥३॥

मीरा दासी जनम जनम की, परी तुम्हारे पाँव ॥३॥

अंतिम चरण को गाती-गाती मीरा सचमुच बेहोश हो गई। बस, फिर क्या था ? वे नन्द-नन्दन ब्रजचन्द मुरली-धारी गिरिधारी लाल जी प्रत्यक्ष पकट हो गये। उन्होंने अधीर हुई बाई मीरा को उठाकर हृदय से लगा लिया। मीरा की सभी तन की तपन मिट गई। उस प्रेमालिंगन से वह निहाल हो गई। उसने अपने हृदय के प्रत्यक्ष देवता की पूजा की। पलकों के पाँवड़े बिछाये। नैनों के निर्मल नीर से उन्हें अर्घ्य-पाद्य दिया, स्नेह का हार पहिनाया और उनसे घुल-घुल कर प्रेम की वतोड़िया होने लगी।

सुनते हैं, इसका कुछ समाचार अन्तःपुर के पहरदारों को भी लग गया, उन्होंने जल्दी से जाकर राणा से कहा—“बाई के घर में किसी पुरुष के होने का सन्देह होता है।” राणा तो यह चाहता ही था, शीघ्रता से वह खड्ग लेकर मीरा के मन्दिर में पहुँचा। पूजा का सभी सामान सजा था। ऊदाबाई और सखी सहेली बैठी थीं। मीरा पू म में छकी-सी स्थिर भाव से सुखानुभव कर रही थी। आते ही उसने पूछा—“अभी यहाँ कोई पुरुष था।”

मीरा ने कहा—“पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम थे और वे तो अब भी इस पलंग पर विराजमान हैं। ये ही मेरे प्राणधन हैं, ये ही मेरे सर्वस्व हैं। क्या आप इनके दर्शन नहीं कर रहे हैं ?”

उस हतभाग्य राणा को उस साँवली सूरत मोहनी मूरत के इतने सहज में दर्शन कहाँ ? उसे तो उसकी भावना के अनुसार भयंकर दर्शन दिखाई दिये। हिरण्यकशिपु की भाँति उसे तो भगवान साक्षात् नरसिंह रूप में दीखे। खैर, इतना ही हुआ कि उन्होंने उसी समय उसके उदर को विदीर्ण नहीं किया। राणा उस भयंकर रूप को देखकर भागा। भागते २ वह कहता

गया “ऐसे भगवान की पूजा से क्या लाभ ? हमारे कुल जो एकलिंग भगवान हैं उन्हीं की पूजा करनी चाहिये ।”

इस प्रकार बाई मीरा ने ऊदाबाई तथा राणा दोनों अधिकारी भेद से दर्शन करा दिये, किन्तु इतने पर भी रा ने अपना हठ नहीं छोड़ा । वह मीरा को त्रास देता ही किन्तु उस प्रेमोन्मादिनी को इन त्रासों से दुःख कहाँ ? वह अपने प्यारे के गुणों में तल्लीन थी । वह तो उनके ऊपर निरंतर थी । उनके गुणगान में दुःख कहाँ ? शोक कैसा ? वहाँ आनंद ही आनंद है । अतः मीरा ने गाया है—

मीरा, मगन भई हरि के गुण गाय ।

साँप पिटारा राणा भेज्या, मीरा हाथ दियो जाय ।

न्हाय धोय जब देखण लागी, सालिंग राम गई पाय ॥१॥

जहर का प्याला राणा भेज्या, अमृत दीन्ह बनाय ।

न्हाय धोय जब पीवण लागी, हो अमर अचाय ॥२॥

सूल सेज राणा ने भेजी, दीज्यो मीरा सुलाय ।

सोंभ भई मीरा सोवण लागी, मानो फूल बिछाय ॥३॥

मीरा के प्रभु सदा सहाई, राखे विघन हटाय ।

भनज भाव में मस्त डोलती, गिरधर पै बलि जाय ॥४॥

चित्तौड़-त्याग ।

मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादि चतुष्टयम्
नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् काल विद्वतम् ॥

भक्तों को न तो मुक्ति चाहिये न धन वैभव । वे संसार-चक्र से छूटने की भी इच्छा नहीं करते । वे अपने स्वामी से कह देते हैं—‘यद् भाव्यं तद्भवतु भगवन् पूर्व कर्मानुरूपम्’ यह जो संचित प्रारब्धका जैसा नियम बना हो, उसे भेटने की हम आपके चरणों में प्रार्थना नहीं करते । ये जैसे होते हैं होते रहें । हे नाथ ! हमारी तो एक मात्र अभिलाषा यही है कि “ममज-

*भगवान कहते हैं—‘जिन्होंने मेरी सेवा को ही अपना परम कर्तव्य बना लिया है’ वे सालोक्यादि चार प्रकार की मुक्तियों तक की भी परवाह नहीं करते । वे तो सदा मेरी भक्ति में ही सराबोर रहते हैं । जब उन्हें मुक्ति तक की इच्छा नहीं तो इन मान, प्रतिष्ठा, वैभव, इन्द्रासन आदि क्षणभंगुर भोगों की तो वे इच्छा करने ही क्यों लगे ।

न्मनि जन्मनीश्वरे भवता भक्ति रहैतुकीत्वायि” कोई भी जन्म क्यों न मिले जन्म जन्मान्तरों में आपकी अहैतुकी भक्ति बनी रहे। ‘चरणौ ते मरणोऽपि चिन्तयामि’ मरते समय तक आपके चरण-कमलों का चिन्तन बना रहे।

भक्त तो सेवा चाहता है, जहाँ सेवा में बाधा हो उस पुरुष को, उस स्थान को मलवत् त्याग दे। उसमें फिर आशक्ति कैसे चाहे, ब्रह्मलोक का सुख ही क्यों न हो।

मीराबाई राज-महल में रहती थी, उसे खाने-पीने और दान-पुण्य करने की कमी नहीं थी, किन्तु राणा के नित नये उत्पातों से उसे चित्तौड़ में रहना भार-सा प्रतीत होने लगा। जहाँ अपने भाव-भक्ति के साथी न भी हों, किन्तु विरोधी भी न हों, वहाँ तो किसी तरह काम चल सकता है, किन्तु जहाँ आये दिन रोज ही विरोध उठता हो वहाँ रहना ही पाप है। मीरा का चित्त ऊब गया था। वह एक आदर्श भक्तिनि की तरह महल के भीतर ही रहकर सेवा-पूजा और साधु सेवा-सत्कार करती थी, किन्तु राणा को उसका यह व्यवहार बिलकुल अच्छा नहीं लगता था। मीरा के ताऊ मेड़ताधीश्वर राव वीरमदेव को जब मीरा की करुण-कहानी का पता चला तो उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ। उन्होंने मीरा को मेड़ता आ जाने के लिये बहुत अधिक आग्रह किया। गुप्त रीति से समाचार भी भेजे, अपने आदमी भी पठाये।

मीरा तो उस राज-महल के बन्दीगृह से ऊब ही गई थी। उसने चित्तौर छोड़ने का निश्चय कर लिया। कहावत तो ऐसी है, कि मीराबाई रात्रि में अपनी दो सहेलियों के साथ चुपके से गेरुए वस्त्र पहिन कर राज-महल से निकल पड़ी।

इसमें वीरमदेव जी के गुप्त सेवकों की भी सहायता रही होगी। या स्वयं वीरमदेव जी के आग्रह से ही राणा ने उसे मेड़ता भेज दिया होगा। कुछ भी हो, मीरा ने मेवाड़ छोड़ दिया और वह अपने पित्रालय में मेड़ता आ गई। राव वीरमजी ने उनके रहने खाने-पीने और साधु-सेवा का यथोचित प्रबन्ध कर दिया और वे सुख-पूर्वक वहाँ रहने लगी।

मालूम ऐसा पड़ता है कि इस कहा-सुनी और जोर के कलह से ऊब कर स्वयं मीरा ने ही राणा के सामने प्रस्ताव किया होगा कि यदि मेरे यहाँ ऐसा आचरण करने से आपकी बदनामी होती है, तो मुझे मेरे मायके भेज दो। इधर राव वीरमदेव ने भी दूत भेजे होंगे। अतः राणाने उसे भेजना ही उचित समझा। पीछे उन्होंने दूत भेजकर मीरा को बुलवाया भी होगा, किन्तु मीरा ने फिर वहाँ जाना स्वीकार न किया होगा। नीचे के पद में मीरा ने अपनी पूरी कहानी वर्णन की है। स्वयं ही उसने सभी घटनाओं का उल्लेख किया है—

अबनहिं बिसारूँ, म्हाँरे हिरदे लिख्यो हरिनाम ।
म्हारे सतगुर दियो बताय, अब नहिं बिसारूँरे ॥

मीरा बैठी महल में रे, उठत बैठत राम ।
सेवा करस्यो साधकी, म्हाँरे और न दूजो काम ॥१॥
राणो जी बतलाइया, कह देणो जबाब ।
पण लागो हरि नामसूँ, म्हाँरे दिन दिन दूने लाभ ॥२॥
सीप भरयो पानी पिवेरे, टाँक भरयो अन्न खाय ।
बतलायाँ बोली नहिं रे राणो जी गया रिसाय ॥३॥
बिषरा प्याला राणो जी भेज्या, दीजो मेड़तणी के हाथ ।
कर चरणामृत पी गई, म्हाँरा सवल धणी का साथ ॥४॥

विषको प्यालो पी गई, भजन करै उस ठौर ।
 थाँगी मारी ना मरूँ, म्हाँरो राखणहारो और ॥५॥
 राणो जी मोपर कोप्योरे, मारूँ एकन सेल ।
 मारयाँ पराक्षित लागसी माँ ने दीजो पीहर मेल ॥६॥
 राणो मोपर कोप्यो रे रती न राख्यो मोद ।
 ले जाती वैकुंठ में, यो तो समझ्यो नहीं सिसोद ॥७॥
 छापा तिलक बनाइ या; तजिया सब सिंगार ।
 मैं तो सरने रामके, भल निन्दो संसार ॥८॥
 माला म्हाँरे देवड़ी, सील बरत सिंगार ।
 अब के किरपा कीजियो, हू तो फिर बाँधूँ तरवार ॥९॥
 रयाँ बैल जुताय के, ऊँटों कसियो भार ।
 कैसे तोड़ूँ राम सू. म्हाँरो भो भोरो भरतार ॥१०॥
 राणो साँड़यो मोकल्यो जाज्यो एके दौड़ ।
 कुल की तारण अस्तरी, या यो मुरड़ चली राठौर ॥११॥
 साँड़यो पाछो फेरयो रे, परत न देस्या पाव ।
 कर सूर पण नीसरी म्हाँरे कुण राणो कुण राव ॥१२॥
 संसारी निन्दा करे रे, दुखियो सब परिवार ।
 कुल सारो ही लाजसी, मीरा थेँ जो भयाजी खवार ॥ १३
 राती माती प्रेम की, विष भगत को मोड़ ।
 राम अमल माती रहे, धन मीरा राठौर ॥ १३

इसका अर्थ यह है—मेरे हृदय में हरिनाम लिख गया है।
 अब उसे मैं भुला नहीं सकती । क्योंकि हमारे सतगुरु ने बता
 दिया है, अतः वह भुलाया नहीं जा सकता । मीरा महल में
 बैठी रहती है, उठती-बैठती राम राम रटा करती है और आये
 हुए साधु-सन्तों की सेवा करती है । इसके सिवाय हमें दूसरा
 काम ही नहीं ।

राणा जी ने पूछा—‘यह क्या किया करती है ? उन्हें जवाब दिया कि मैंने तो हरिनाम का जूआ खेला है, उसमें मुझे दिन दिन दुगुना लाभ होता है ।

विरह के कारण मैं सीप भर के जल पीती हूँ और चार मासे अन्न खाती हूँ, अर्थात् मेरा खाना पीना बहुत ही कम होगया है । राणाने आकर बहुत सी बातें पूछीं बहुत सी गाथा गाई, मैं सुनकर चुप होगई कुछ भी उत्तर नहीं दिया । इसपर राणा क्रोधित होगया । उसने विष का प्याला यह कहकर भेजा कि ‘इसे मेड़तिया बंश वाली मीरा के हाथ में देना ।’ मैं उसे चरणामृत मानकर पी गई, उससे कुछ भी नहीं हुआ क्योंकि बलवान धनी श्रीगिरिधरलाल मेरे साथ हैं ।

उसी स्थान में विषका प्याला पीकर भजन करने लगी । मैंने कह दिया—‘तुम्हारे मारने से मैं मर नहीं सकती । मेरा जिलाने वाला तो कोई और ही है ।

राणा मुझपर अत्यंत ही क्रोधित हुआ और क्रोध में भरकर उसने कहा—‘मैं एक बरछी में तुम्हें मार डालूँगा ।’ मैंने कहा—‘छीके मारने से पाप लगता है, इस लिये मुझे मेरे पीहर मेड़ता पहुँचा दो । राणा व्यर्थ मैं ही मुझ पर क्रोधित हुआ, तनिक भी प्रेम नहीं राखा । उस शिशोदिया बंश के राणा ने यह तो समझा नहीं कि भजन के पूताप से उसे भी मैं बैकुंठ लेजाती ।

मैंने शृंगार छोड़कर तिलक छापे लगा लिये । मैं तो रामजी की शरण हूँ । संसार निन्दा करता है तो भले ही करता रहे । भगवन्नाम की ही हमारी माला है, शील व्रत ही शृंगार है । हे मेरे स्वामी ! मुझपर अब की कृपा करो, मैं फिर से तलवार बाधँगी ।

रथ में बैल जुताये गये, ऊँटों पर सामान लादा गया और मेड़ता की ओर चल दी। भला, मैं रामजी से सम्बन्ध कैसे तोड़ सकती हूँ, वे तो हमारे जन्म-जन्मान्तर के पति हैं।

जब घर से निकल गई तो राणा ने लौटाने के लिये साँड़िनी पर सवार भेजा कि जल्दी से दौड़ कर जाओ, यह स्त्री तो कुल को तारने वाली थी। मालूम पड़ता है राठौर की लड़की मीरा रुठ कर जा रही है। मैंने साँड़िनी वाले सवार से कहा—‘तू अपनी साँड़िनी को पीछे लौटा ले जा, अब मैं लौट कर चित्तौड़ में पैर भी नहीं रखूँगी। मैं तो शूरवीरों का-सा प्रण करके घर से निकली हूँ, मेरे लिये कौन राणा कौन राव।

उस साँड़िनी वाले सवार ने कहा—संसारी लोग सभी निंदा करेंगे। परिवार के सभी लोग दुखी होंगे, यह बात सम्पूर्ण कुल के लिये लज्जा-जनक होगी कि तुम्हारा चित्त दुखी हुआ और तुम रुठ कर चली गईं।

मीरा कहती है—‘मैं तो प्रेम की राती माती हूँ। भगत का मोल विष है। मैं तो राम-नाम के अमल में मस्त रहती हूँ राठौर की लड़की मीरा तो इसी में धन्य है।

मीराबाई आकर मेड़ते में रहने लगी। इधर मीराबाई के मेवाड़ छोड़ते ही राणा पर विपत्तियों के पहाड़ टूट पड़े। राणा विक्रमाजीत के क्रूरता-पूर्ण व्यवहार से सभी क्षत्रिय वीर सरदार तथा प्रजा के समस्त लोग असन्तुष्ट तो पहिले ही से थे, अब धीरे-धीरे सभी सरदार उससे द्वेष रखने लगे और आपस में कुछ फूट पड़ गई। वे आपस में ही एक दूसरे के विरुद्ध हो गये। विक्रमाजीत सिंह को कोई भी राजा सिंहा-

सन पर देखना नहीं चाहता था। प्रजा के लोगों के अतिरिक्त और भी जो आस-पास के क्षत्रिय तथा यवन राजा थे वे पहिले ही से चित्तौड़ के इस उत्कर्ष से डाह करते थे। अनेक बार महाराणा साँगा ने सभीके दाँत खट्टे किये थे। महाराज के सामने किसी की हिम्मत तक नहीं पड़ती थी कि मेवाड़ की तरफ आँख उठाकर भी देखता। किन्तु महाराणा के परलोकावासी होजाने पर तथा विक्रमाजीतसिंह की नीचता और अत्याचारों के कारण मेवाड़ की शक्ति क्षीण हुई देखकर महाराणाके पुराने शत्रु गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने मेवाड़ पर चढ़ाई करदी। यवनों की सेना को चित्तौड़ के चारों ओर टिड्डी दल की भाँति मँड़राते देखकर क्षत्रियवीरों के छ क्केछूट गये। शत्रु को पराजित करने के लिये सभी सरदारों ने परस्पर का बैर त्याग दिया और सभीने एक होकर बड़ी बहादुरी से यवन सेना का मोर्चा लिया। सुलतान अपनी सेना के सहित प्राण लेकर भाग गया। विजयलक्ष्मी मेवाड़ के वीरसरदारों के हाथ रही।

सुलतान भला कब चुप बैठने वाला था; उसने पुनः शक्तिसंचय करके मेवाड़ पर चढ़ाई की। इस बार उसने क्षत्रिय वीरों की बहुत बड़ी हानि की। यद्यपि वह मेवाड़ को विजय तो नहीं कर सका किंतु सम्पूर्ण राज्य को उसने शक्ति-हीन बना दिया। विक्रमाजीत ने भी अपनी करनी का फल पाया। महाराणासाँगा के भाई पृथ्वीराज की उप-पत्नी से पैदा हुए वनवीर ने विक्रमाजीतसिंह को मार डाला। प्रजा तो सभी विक्रमाजीत से असन्तुष्ट थी ही, अतः किसी भी सरदारने विक्रमाजीतसिंह की मृत्यु का विरोध नहीं किया। सं० १५६४ के करीब विक्रमको मार कर बनवारी मेवाड़ का राजा बन गया। मीराबाई जैसी भगवत्भक्ता को कष्ट पहुँचाने से न तो उसका यही लोक सुख-

मय बना और न उसे क्षत्रियवीरों की सी सद्गति ही प्राप्त हुई ।
ठीक ही कहा है—

हिंस स्वपापे न विहिंसितः खलः साधु समत्वेन भयात् विमुच्यते ।*

इधर मीराबाई मेड़ता में सुखपूर्वक भगवत् भजन में मस्त थी । राज्यों के अनेक मगड़े होते हैं । राव दूदाजी परम पराक्रमी थे, उन्होंने तो अपने पराक्रम से मेड़ता को स्वतंत्र राज्य बना लिया था, किन्तु जोधपुर के रावमलदेव को यह बात अच्छी नहीं लगी । उन्होंने युद्ध करके वीरमदेवजी से मेड़ता छीन लिया और उसे अपने राज्य में मिला लिया । मालदेव और वीरमदेव दोनों भाई-भाई ही थे । आपस में चाहे जैसे लड़े, किन्तु मीरा बाई को तो दोनों ही मानते थे । मालदेव ने भी अपनी भतीजी मीराबाई का सम्मान किया । किन्तु इन राज्यों की उथल-पुथल से मीरा का मन एक दम उदास हो गया । परिजनों की एक के बाद एक इस प्रकार सभी की मृत्युसे उसे संसार से विराग तो पहिले से ही हो चुका था, अब अपने ससुराल और मेड़ता दोनों राज्यों के इस उलट फेर ने तो उसे संसार की निस्सारता एक दम सुझा दी । उसका विरागी मन वृन्दावनविहारी के सान्निध्य में श्री ब्रजकी पावन धूलि के लिये तड़पने लगा । अब उसे वे सुन्दर-सुन्दर महल, राज्य वैभव, राजसी सामिग्रियाँ काटने को दौड़ने लगीं । उसे प्रतीत होने लगा कि ये संसारी भोग ही दुःख के मूल कारण हैं । इन राज्य, वैभव-भोग और सम्मान के पीछे भाई का भाई

*दूसरों को कष्ट पहुँचाने वाला हिंसक दुष्ट पुरुष अपने पाप के कारण ही मारा जाता है । साधु पुरुष सभी में समभाव रखते हैं अतः वे भय से छूट जाते हैं ।

शत्रु बन जाता है। इसलिये वह वृन्दावन जाने का निश्चय करके घर से निकल पड़ी। अपने प्रियतम से मिलने के लिये वह कुल की मान प्रतिष्ठा को तिलांजलि देकर निर्भयतापूर्वक निकल पड़ी। उसने स्वयं गाया है—

तेरा कोई नहिं रोकनहार, मगन होय मीरा चली ।

लाज सरम कुल की मरजादा, सिरसे दूर करी ।

मान अपमान दोऊ धर पटके, निकसी हूँ ज्ञान-गली ॥ १

ऊँची अटरिया लाल किव ड़िया, निरगुन सेज बिछी ।

पंचरंगी भालर सुभ सोहै, फूलन फूल कली ॥ २

बाजू बन्द कड़ूला सोहै, सेंदुर मांग भरी ।

सुमिरन थाल हाथ में लीन्हा, साभा अधिक भली ॥ ३

सेज सुखमण मीरा सोवै, सुभ है आज घरी ।

तुम जावो राणा घर अपने, मेरी तेरी नाह सरी ॥ ४

श्री वृन्दावन में वास

आसामहो चरणरेणु। जुषा महं स्थाम्,
वृन्दावने किमपि गुल्म लतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यज स्वजनमार्यं पथं च हत्वा,
मेजुमुकुन्द पदवीं श्रतिभिर्विमृग्याम् ।

महात्मा कबीर जी की एक साखी है ।

उठा बगुला प्रेमका, तिनका उड़ा अकास ।

तिनका तिनके से मिला, तिनका तिनके पास ॥

× संसार में सगे सम्बन्धी और स्वजनों का परित्याग करना अत्यन्त ही कठिन है, जिन गोपियों ने उन कठिन से त्यागो जाने वाले कुटुम्बियों का भी त्याग करके उन प्रभु के चरणों का आश्रय लिया है जिन्हें पाना श्रुतियों के लिये भी कठिन है। उन महाभागा गोपियों की पावन चरण धूल जन छूटे २ वृक्षों पर, लता गुल्मों पर पड़ती हों, उन्हीं वृन्दावन के वृक्षों में से कोई एक वृक्ष मैं बन जाऊँ ऐसी मेरी एकान्तिक आशा है, इच्छा है, वासना है ।

प्रेम से प्रादुर्भूत प्राणी प्रेम के लिये ही सदा छटपटाता रहता है। जिस स्थान से आया है उसी में फिर पहुँचने का प्रयत्न यह जीव निरंतर करता रहता है। उसी का नाम लगन है, प्रवाह पतन, पुरुषार्थ, साधन, संयोग जो चाहे इसे कह लीजिये। यहीं तब जीवन में यह भाव है। वहाँ पहुँचते ही अपनापन मिट जाता है, प्रियतम के पाद—पद्मों में सर्वतोभावेन अपने को समर्पित कर देना यही पुरुषार्थ की पराकाष्ठा है। वे सच्ची लगन के परम पुरुषार्थी भाग्यवान् सुसंयोगी साधक धन्य हैं, जो इस प्रेम-प्रवाह में बहते-बहते स्वयं ही अपने गंतव्य स्थान तक पहुँच गये हैं।

मेड़ता राज्य जोधपुर के अधीन हो जाने पर बाई मीरा वहाँ से निकल पड़ी, संसारी लोगों में अब उनका मन नहीं लगा। वहाँ से चल कर वे श्रीवृन्दावन में आईं। कृष्णरंगराती यमुना जी के दर्शनों को जो मीरा व्याकुल थी उसने कृष्ण-कृष्ण करती हुई श्यामा यमुना मन्दगति से बहती हुई देखी। जिस ब्रज धूल की महिमा गाते गाते वह पगली बन गई थी, उस ब्रज की परम पावन रज में वह लोटपोट हो गई। यमुना जी का वह पुलिन, कंदब वृक्षों की वह सुन्दर सघन श्याममयी छाया, करीलों की वे झाड़ियाँ, पीलुओं की मनोहर टेढ़ी-मेढ़ी बनी उन कुंजों को देखकर मीरा का मन नृत्य करने लगा। कीचड़ में फँसी हुई मछली जल के अभाव से छटपटाती रहती है और कीचड़ में सने हुए जल के कारण मरती नहीं, किन्तु प्रतिकूल जल के ही लिये व्याकुल बनी रहती है और संयोग से बादलों की कृपा से कीचड़ से निकल कर किसी तरह अथाह समुद्र में पहुँच जाय तो वहाँ जाकर जितनी वह मछली सुखी होगी उतनी

ही मीरा वृन्दावन के महारण्य में जाकर सुखी हुई। उसने बंशीबट को देखा, उसे देखते २ वह बेहोश हो गई। उसने पुकारा—‘श्याम ! तनिक एक बार फिर तो बंशी की ध्वनि सुना दो ।’ वह पगली बंशी की धुनि सुनने को तृषित पपीहा-पत्नी की भाँति आशा लगाये खड़ी रहे। तब उसने उन बाँके-बिहारी की बाँकी भाँकी की। चिरकाल के बाद उस साँवरी सलोनी मूरति को देखकर मीरा अवाक् रह गई। वह शिष्टाचार भूल गई। फिर कुछ प्रकृतिस्थ होने पर उसने अपने आराध्यदेव को, जीवन धन को, चिरसंगी को, प्राण-जीवन को, हृदय-धन को और प्राणनाथ को प्रणाम किया, वह गा उठी—

हमारो प्रणाम बाँके बिहारी को ।

मोर मुकट माये तिलक विराजै, कुण्डल अलका कारी ॥१॥

अधर मधुर पर बन्सी बजावै, रीझ रिझावै राधाप्यारी को ॥

यह छवि देख मगन भई मीरा मोहन गिरवर धारी को ॥

सचमुच मीरा मगन हो गई। मगन होने की जगह ही थी। यहाँ सभी अपने आपे को भूल जाते हैं। भक्तवर श्री विल्वमंगल जी ने एक स्थान में ब्रज के प्रेम की पराकाष्ठा बताते हुये वर्णन किया है—एक गोपिका थी, वह पगली नई ही आई थी, आते ही श्यामरंग में रङ्ग गई। इतनी गरक्र भई कि सब सुधि-बुधि भूल गई। श्यामतन श्यामधन यहाँ तक कि उसके रोम-रोम में श्यामता बिँध गई। घर की सास ननद ने उसे दूध-दही बेचने के लिये भेजा। दूध दही भला कैसे बेचती, मन तो मनमोहन के समीप चकर लगा रहा है। बाणी तो उस बनवारी के वशवर्तिनी हो चुकी है। उसे

कहना चाहिये था—‘दही लोरी दही ! दूध, ही री दूध’ किन्तु वह यह न कहकर कहती है ‘हे गोविन्द ! हे दामोदर ! हे माधव !’

विक्रेतु कामा किल गोप कन्या सुरारि पादार्षित चित्तवृत्तिः ।

दध्यादिकं मोह वशादबोचत् गोविन्द दामोदर माधवेति ॥

यही हाल मीरा का भी हुआ । वह सब कुछ भूल गई । उसे बस वृन्दावन में आकर अपने श्यामसुन्दर की धुनि थी ! ब्रजका टोना उसे लग गया । इसी लिये उसने गाया है—

या ब्रजमें कछू देख्योरी टोना ।

ले मटुकी सिर चली गुजरिया, आगे मिले बाबा नन्द के छोना ॥

दधि को नाम विसारि गयो प्यारी, ले लेहुरी कोई स्याम सलोना ।

बिन्दावनकी कुंज गलिन में, आँख लगाइ गयो मन मोहना ॥

मीरा के प्रभु गिरधर नागर सुन्दर स्याम सुधर रस लोना ।

उस सुन्दरता का नशा मीरा की आँखों में समा गया । बस वह उन वृन्दावन की हरी हरी लताओं में हरी हरी पुकारती वावरी बनी विचरती रही । उसकी उपासना थी, मैं उनकी दासी हूँ वे मेरे स्वामी हैं ।

उन्हीं दिनों में श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुगत ६ गोस्वामी भी वृन्दावन में आये थे । कहना चाहिये कि उन्हीं की कृपा से वृन्दावन रसिकों का निवास-स्थान बना और उनकी प्रेरणा से बहुत से मंदिरों की रचना हुई । श्री रूप सनातन जी तो पहिले ही आचुके थे, इसके पश्चात् उनके भतीजे जी व गोस्वामी भी वहाँ आ गये । श्री चैतन्य सम्प्रदाय के मानने वाले भक्तों का सिद्धान्त है कि सम्पूर्ण जीव प्रकृति-स्वरूप है, पुरुष तो वे ही एक नन्द-नन्दन श्री यशुमतिकुमार हैं । सभी उनके भोग्य हैं

भोक्ता तो वे ही अद्वितीय हैं अतः उनकी उपासना के सम्बन्ध में कहा गया है—‘रम्या काचिदुपासना ब्रज वधू वर्गेण या कल्पिता । उनकी उपासना मधुर भाव की है, जिस तरह ब्रजंगनयें श्री वृन्दावन विहारी की करती थीं । श्री वृन्दावनाधीश्वरी श्री जी की कृपा पात्र किंकरी मानकर प्यारे प्रियतम की लीलाओं का रसास्वादन करते रहना ही परमातिपरमपुरुषार्थ है, यही इनकी उपासना का भाव है ।

मीरा की उपासना इससे कुछ भिन्न थी, उसे दूसरे की जरूरत नहीं थी । उसका सीधा सम्बन्ध श्यामसुन्दर से था, वह उनके प्यारे थे, यह उनकी प्रियतमा थी । अतः मधुर उपासना होने पर भी सापेक्ष नहीं थी, वह निरपेक्ष स्वतंत्र और कभी न हटने वाली अखंड थी ।

सुनते हैं एक बार मीराबाई श्री जीव गोस्वामीजी के दर्शनों को गई । उन दिनों श्री जीव गोस्वामीजी के त्याग वैराग्य और पांडित्य की खूब ख्याति थी । मालूम होता है, वे नये ही नये घर से आये थे । उन दिनों वे स्त्रियों से नहीं मिलते थे, सेवक ने जाकर संदेश कहा कि श्री मीराबाई आपके दर्शनों के लिये खड़ी हैं ।’ गोस्वामीने कहा—‘कहदो, हम स्त्रियों से नहीं मिलते वे दर्शन करके चली जायँ ।’ तब मीराबाई ने हँस कर मीठी चुटकी लेते हुए कहलाया—‘मैं अब तक यही समझती थी कि इस वृन्दावन में पुरुष तो एक मात्र वे ही ब्रजचन्द्र हैं, शेष सभी उनकी किंकरी हैं, किन्तु अब पता चला कि उनके कोई पट्टी-दार भी हैं ।’

इस गूढ़ ज्ञानमयी बातको सुनकर गोस्वामीजी लज्जित हुए और स्वयं नंगे पाँवों ही अपने स्थान से दरवाजे पर दौड़े आये ।

मीराबाई का व्यक्तित्व ही ऐसा था कि उसके सामने सभी का सिर स्वयं नत हो जाता था। वृन्दावन में उसकी चारों ओर ख्याति फैल गई। दूर दूर से भक्त मीरा के दर्शनों को आते। वह एक हाथ में करताल लेकर रूँधे हुए कंठ से जब गाते 'मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरा न कोई', तब सुनने वाले जड़-वत् चित्र लिखे की तरह उसके अश्रुपूर्ण मुखारविन्द को निहारते ही रहते। उसकी वृत्तियाँ सदा वृन्दाविहारी के रूप-रंग में डूबी रहतीं उसका मन सदा मोहन की मोहिनी मूरति में सना रहता। वह पल पल पर, स्वांस स्वांसपर, अपने प्यारे को पुकारती, अधीर हो जाती और वृन्दावन की लता पत्रों आदि से अपने प्राणाधार का पता पूछती। वृन्दावन की वे विविड निकुंजें, वे सघन वृक्षावली, यमुना जी का वह निर्मलजल उसे हठात् अपनी ओर खींचता रहता। वह रात्रि भर रोती रहती, कभी अपने प्यारे को ताना देती, कभी उनकी कठोरता की शिकायत करती और कभी विरह-वेदना में अधीर होकर फूट-फूट कर रोने लगती। एक पतिव्रता अपने पति के लिये जो भी कुछ करती है, वही मीरा का वृन्दावन में कार्य था। वृन्दावन का वास उसे आनंदमय और प्रेममय प्रतीत हुआ। क्यों न हो वह वहीं की तो थी, अपना घर किसे प्यारा नहीं लगता, फिर वह फूटा ही क्यों न हो। वृन्दावन की महिमा को याद करके मीरा गा उठी।

आली म्हाँने लागे वृन्दावन नीको ।

घर घर तुलसी ठाकुर पूजा, दरसण गोविंद जी को ।

निरमल नीर बहत जमना में, भोजन दूध दही को ।

रतन सिंघासण आप विराजे मुगट धरयो तुलसी को ॥

कुंजन कुंजन फिरत राधिका, सबद सुणत मुरली को ।

मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, भजन बिना नर फीको ॥

प्रेमासक्तिनी

कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुषे लोके ।

याद भवति कस्य विरहो विरह सति को जीवति ।*

प्रेम मस्तिष्क की कसौटी पर कसने की चीज नहीं है। वह तो हृदय की ज्वाला है, छिपी हुई ज्वालामुखी है, कब प्रकट होती है, कैसी होती है, किसके होती है, इसे कोई नहीं जानता। जिन्हें लोग मूर्ख कहते हैं, लोक वेद से बहिष्कृत समझते हैं, वे प्रेम-देव के मंदिर के प्रिय पुजारी बन जाते हैं और जो बड़े शास्त्रज्ञ हैं, ज्ञानी हैं, पंडित हैं, अभिमानी हैं वे केवल इन्हीं श्रेष्ठ साधनों से प्रेम के दरवाजे तक भी नहीं पहुँच पाते। प्रेम तो

*इस वासनामय जगत में पहिले तो प्रेम होना ही दुर्लभ है, यदि प्रेम हो भी जाय तों कपटरहित विशुद्ध प्रेम नहीं होता। निष्कपट प्रेम होने पर भी विरह नहीं होता। यदि कदाचित्त विरह भी हो तो फिर कौन जी सकता है ?

हृदय की आग है, जिसमें अभिमान, कुलकानि; इन्द्रियवास-
नाये' स्वतः ही विना परिश्रम के ही जल जाती हैं। प्रेम वह
गंगा है जो अनिच्छापूर्वक भी घुसे हुए आदमी के पापों को
बलात् भस्मसात् करती है। इसीलिए भगवान नारद ने प्रेम
की व्याख्या की है—

गुणरहित कामना रहितं प्रतिक्षणं वर्धमानम् ।

अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरं अनुभवरूपम् ॥

प्रेम वैसे तो अलक्षणीय है। उसके लक्षण हो ही नहीं सकते,
फिर भी काम चलाने के लिए प्रेम के ६ विशेषण दिये गये हैं।
१-गुणरहित, २-कामनारहित, ३-प्रतिक्षण बढ़ने वाला, ४-
विच्छेद से रहित, ५-सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, ६-और अनुभव से
ही जाननेयोग्य। प्रेम में ये बातें अवश्य होती हैं।

सामान्य रीति से प्रेम गुणों को ही देखकर किया जाता है।
भगवान में भी समग्र ऐश्वर्य, यश, श्री, धर्म, ज्ञान और वैराग्य
ये ६ समग्र ऐश्वर्य गुण विद्यमान हैं और इन गुणों के रहने
पर वे जगत के श्रेष्ठ हैं ही। किन्तु गुणों को ही लक्ष्य मानकर
उनके ही कारण किये हुए प्रेम को प्रेम न कह कर श्रद्धा कह
सकते हैं। श्रद्धा तो कभी बढ़ जाती है, कभी घट जाती है, यहाँ
तक कि उन गुणों का अभाव दीखने पर श्रद्धा नष्ट भी हो
जाती है, किन्तु प्रेम तो कभी भी घटने वाली चीज नहीं है।
वह तो अनन्त काल तक बढ़ता ही जाता है। अतः प्रेमी अपने
प्रेमास्पद के गुण नहीं देखता। एक कहावत प्रसिद्ध है कि
गोस्वामी तुलसीदास जी से किसी ने कहा—श्री कृष्ण भगवान
तो १६ कलापूर्ण अवतार हैं और श्रीराम जी तो १२ ही कला
पूर्ण हैं; आप श्रीकृष्ण भगवान की जिनके सम्बन्ध में कहा

गया है 'ऐते चांशकला प्रोक्ताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं', उन पूर्ण-निपूर्ण रूप की उपासना क्यों नहीं करते ?' आश्चर्य के साथ गोस्वामी जी ने कहा—'भैया तुम्हारा भला हो, तुम ने बड़ी सुन्दर बात बता दी। श्री राम जी अवतार भी हैं क्या ? मैं तो दशरथनन्दन करके ही उनकी अब तक उपासना करता रहा, अब तो एक और एक ११ हो गये; अब तो मेरी निष्ठा और भी बढ़ होनी चाहिये।'

तात्पर्य इतना ही है, कि प्रेम को गुणों की अपेक्षा नहीं वह तो गुणों से परे है, निर्गुण सगुण दोनों ही गुण से रहित है।

प्रेम की दूसरी विशेषता है कामनारहित होना। लोग कहा करते हैं, अजी एक हाथ से संसार को भी पकड़े रहो दूसरे से प्रेम भी करते जाओ। काम-क्रोध का जीतना अत्यन्त ही कठिन है। 'भाई प्रेमके ही लिये सब कुछ मत छोड़ दो' जो ऐसी बातें कहते हैं उन्हें अभी तक प्रेमके प्रभाव का परिचय नहीं। और प्रेम में कैसा काम, कहाँ का क्रोध। पूर्ण प्रेम होना तो दूर की बात है, यदि प्रेमका एक कण भी हृदय में प्रवेश कर जाय, तो ये काम क्रोध तो उसी क्षण भस्म हो जायेंगे। दीपक लेकर आप घर के भीतर अंधेरे को दूँदने जाइये, क्या आपको दीपक के प्रकाश में कहीं अंधकार मिलेगा। यदि नहीं मिला तो क्या आपने अंधकार को भगाने के लिये कोई प्रबल पुरुषार्थ किया ? प्रेम दीपक की ज्योति जला तो लो फिर देखना तुम सभी प्रकार के भय से छूट जाओगे। 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्यत्रायते महतो भयात्' किन्तु यह सब संसारी कामों के रहते न होगा। प्रेम में कैसी भी कामना के लिये स्थान नहीं। वैष्णवों ने कहा है—

भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत्, पिशाची हृदि वर्तते ।

तावत् भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

भुक्ति-मुक्ति की कामना-रूपी पिशाची जब तक हृदय में वर्तमान है, तब तक प्रेम-रूपा भक्ति का उदय कैसे हो सकता है ? अतः प्रेम कामनारहित होना चाहिये ।

प्रेम का तीसरा लक्षण यह है कि वह प्रतिक्षण बढ़ने वाला हो । प्रेम अपार समुद्र है, उसका कहीं पार नहीं । पार उन चीजों का होता है जिनके आगे कोई दूसरी चीज हो, जैसे त्रिवेणीजी के पार में गया । पानी गंगायमुना के संगम से आगे जहाँ जल समाप्त होकर शुभ बालुका आजाती है वहाँ मैं पार उतरा । किन्तु प्रेम के आगे तो कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं, वह तो एक अद्वितीय अपार पार की भी पराकाष्ठा है; अतः आगे ज्यों ज्यों बढ़ेगे वह भी बढ़ता ही जायगा और उसके बढ़नेकी भी कोई सीमा नहीं, क्योंकि जैसे प्रेम का स्वरूप असीमित है उसी प्रकार प्रेमी की वर्धन क्रिया भी असीम है; वह भी कितनी बढ़ सकती हैं, इसका कोई अनुमान नहीं लगा सकता । रसखान कहते हैं—

प्रेमे अगम अनुमम अमित, सागर सरिस बखान ।

जो आवत यहि ढिग बहुरि, जात नहीं रसखान ॥

प्रेम का चौथा लक्षण है अविच्छिन्नता । जैसे गंगा जी का पूवाह रुकता नहीं, हमेशा बहता ही रहता है उसी तरह प्रेम का स्रोत निरंतर बहा ही करता है । रुकने से उसकी निरंतर की वृद्धि में अंतर पड़ जाता है; प्रेम में जुदाई नहीं, उसमें तो एकतानता है ।

पाँचवाँ लक्षण है अति सूक्ष्म होना । मतलब यह कि परमात्मा भी गिने जा सकते हैं, अनंत कोटि ब्रह्मांडों का भी समाधि से

पुत्यद्य हो सकता है। सूक्ष्म से सूक्ष्म तन्मात्रायें, अहंकार, बुद्धि इन सब का भी अनुमान आदि प्रमाणों से पुत्यद्य हो सकता है, किन्तु प्रेम तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। सूक्ष्मता भी वहाँ पराकाष्ठा है। इसीलिये अंतिम लक्षण दिया है, 'अनुभवरूपम्', अर्थात् वह अनुभव की वस्तु है। किस प्रकार 'मूका स्वादन वत्' गुँगे पुरुष को कोई बढ़िया से बढ़िया पदार्थ खिलाइये, वह उसे वाणी से कह नहीं सकेगा। मनही मन उसका अनुभव करके प्रसन्न होगा।

यह प्रेम तो एक ही है, किन्तु आचार्यों ने इसके १२ भेद किये हैं। १— गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति दास्यासक्ति, संख्यासक्ति; कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम परम विरहासक्ति। इनमें से एक वात्सल्यासक्ति को छोड़कर और सभी प्रकार की आसक्तियाँ मीरा बाई के जीवन में मिलती हैं। यदि वात्सल्यासक्ति का व्यापक अर्थ प्यारे शिशु में आसक्ति ऐसा कर ले तब तो ये पूरी की पूरी आसक्तियाँ मीरा के पदों में पाई जाती हैं। मीरा की साधना बहुत ही ऊँची है। वह गोविन्द में सर्व प्रकार से आसक्त हो गई थी, उसने गाया है—

माई मैं तः गोविन्द सों अटकी ।

चाकत भये हैं दग दोउ मेरे लखि शोभा नटकी ॥१॥

शोभा अंग अंग प्रति भूषण वनमाला तटकी ।

मोर मुकुट कटि किकिनि राजै दुत दामिनि पटकी ॥२॥

रमित भई हौं साँवरे के संग, लोग कहैं भटकी ।

छुटी लाज कुल कानि लोग डर रह्यो न घर हट की ॥३॥

मीरा प्रभु के संग फिर गी, कुञ्ज कुञ्ज लटकी ।

बिना गोपाल लाल बिन सजनी, को जानै घटकी ॥४॥

मीरा की गुणमाहात्म्यासक्ति

शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणे—

जन्मानि कर्माणि च यानि लोके

गीतानि नामानि तदर्थकानि

गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥

भगवान् शौनक ने पूछा—‘सूत जी ! एक बात हमारी समझ में नहीं आई । तुमने कहा कि व्यासजी से उनके पुत्र महायोगी शुकदेव ने यह श्रीमद्भागवत पढ़ी, सो कैसे ? शुकदेव तो जन्म से ही सन्यासी सभी विषयों में अनासक्त और निरपेक्ष

*भगवान् के गुणमाहात्म्य में आसक्त हुआ पुरुष भगवान् के जगन्मंगलकारी जन्म तथा कर्मों की कथाओं को तथा जन्मकर्मनुसार रघुनंदन, देवकीनंदन, गोंवर्धनधारी सरचापधारी आदि मनोहरनामों को, जिनका कि गायन संसार में होता है सुनता हुआ और स्वयं उनका गान करता हुआ संसार से असंग होकर विचरण करे ।

‘थे, उन्होंने इतनी बड़ी यह भागवत संहिता पढ़ कैसे ली ?’
इस पर सूत जी ने बड़े ही मार्मिक शब्दों में कहा—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युत्क्रमे ।

कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थं भूतगुणो हरिः ॥

भगवान् ! आपने बात तो ठीक कही, किन्तु इस विषय में लागू नहीं। आत्मा में रमण करने वाले, अहंता-ममता से हीन अथवा ग्रन्थों का भी अभ्यास छोड़ने वाले ऋषि-मुनिगण भगवान् नंदनंदन के प्रति अहैतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि भगवान् के गुणों का माहात्म्य है ही इतना आकर्षक कि कैसा भी त्यागी-विरागी हो उसे हठात् अपनी ओर खींच लेते हैं।

सचमुच भगवान् के गुणों में ऐसा जादू भरा है कि जिस भाग्यशाली को उनके श्रवण-कथन का चस्का लग गया। बस, फिर वह उन्हीं का हो जाता है। वे नित्य-नूतन से होते जाते हैं, उनमें प्राचीनता आती ही नहीं। ‘स्त्रियां विटानमिव साधुवार्ता।’ कामुक पुरुष उन्हीं स्त्रियों की बातों को बार बार सुनते हैं और सुनते-सुनते वृत्त नहीं होते। इसी तरह भगवत् गुणों में नित्य-प्रति अतृप्ति ही बढ़ती जाती है।

जिसकी आत्मा को कृष्ण-रूपी भूत ने पकड़ लिया है, जो कृष्ण-ग्रह प्रहीतात्मा है, उसके कानों में जहाँ भगवान् के नाम, यज्ञलीला, धाम का शब्द पड़ा नहीं कि उसकी आँखों ने प्रेमाश्रुओं की झड़ी लगाई नहीं। सहजोबाई ऐसे ही प्रेमी भक्तों के सम्बन्ध में कहती है—

प्रेम दिवाने जो भये, कहैं बहकते नैन ।

सहजो मुख हाँसी छुटे कबहूँ टपकै नैन ॥

प्रेम दिवाने जो भए, सहजो डिगमिग देह ।

पाँव पड़े कितकै किती, हरि सम्हाल जब लेह ॥

सचमुच जो भगवान के महद्गुणों के रँग में रँग चुका है, उन पर अपना सर्वस्व हार चुका है, उसे अपने शरीर-सुख की चिंता नहीं रहती, उसकी सम्हाल तो श्री हरि ही करते हैं। वैसे भगवान् के अनंत गुण, अनंत लीला, अनंत नाम हैं, किन्तु जहाँ उन्होंने पतितों पर कृपा की है उसी प्रसंग को सुन कर भक्त को सहारा मिलता है। सच्ची बात तो यही है, उसी प्रलोभन में बेचारा फँस जाता है और वह फंदा ऐसा जबरदस्त है कि 'जो आवत यहि ढिग बहुरि जात नहीं रसखान' इधर आया नहीं कि लोक वेद दोनों से ही बेकाम हो गया, 'डूबा प्रेम सिन्धु का कोई हमने नहीं उछलते देखा', जिसने एक बार भी दिल खोल कर डुबकी लगाली बस फिर वह वहीं का हो रहा। भक्त जब सुनता है—

अहो वकीयं स्तन कालकूटं जिघांसयापाय यदप्यसाध्वी ।

लेभे गतिं वाञ्छुचितां तताऽन्यत् कं वा दयालु शरणं ब्रजेम ।

राक्षसी घूतना उन यशोदानंदन को मारने की इच्छा से अपने स्तनों पर कालकूट विष लगाकर आई थी, किन्तु ऐसी क्रूर कर्म करने वाली राक्षसी को भी स्तन पिलाने के नाते से माता की जैसी गति दे दी। ऐसे दयालु स्वामी को छोड़कर फिर भला किसकी शरण जायँ। बस इन्हीं बचनों का नाम गुणमाहात्म्य-वर्णन है। मीरा तो बार बार अपने को समझाती है। अपने प्यारे के इन गुणों पर आसक्त होकर व्याकुलता के साथ कहती है—

अब मैं शरण तिहारी जी, मोहि राखौ कृपा निधान ।

अजामील अपराधी तारे, तारे नीच महान ।

जल डूबत गजराज उबारे, गणिका चढ़ी विमान ॥१॥

और अधम तारे बहुतेरे, भाखत सन्त सुजान ।

कुब्जा नीच भीलनी तारी, जानै सकल जहान ॥२॥

कह लग कहू गिनत नहि भावै थकि रहे वेद पुरान ।

मीरा कहै मैं शरण थॉरी, सुनये दोनों कान ॥३॥

हे कृपा के सिन्धो ! हे दीनों के बन्धो ! मुझे भी कहीं श्री-चरणों के किसी कोने में स्थान दो। यदि कहो कि तू स्त्री इस योग्य नहीं, तो सरकार ! आप के दरबार में भी योग्यों की ही पूछ है क्या ? प्राणनाथ अजामिल क्या सदाचारी था ? सदन तो जाति के कसाई थे । यह ठीक है, इन्हें दुर्लभ मनुष्य-योनि प्राप्त थी, किन्तु गजराज तो पशु था । उसकी बात भी छोड़ दो, तुम कहोगे ये तो सभी पुरुष थे, स्त्रियों का अधिकार नहीं । सो हे मेरे मालिक तुम्हारी कृपा के वितरण में भी भला कभी स्त्री-पुरुष का भेद-भाव हो सकता है ? गणिका तो महा निन्दित कर्म करने वाली थी, उसने भजन तक नहीं किया, तोते को पढ़ाते २ ही वह तुम्हारे द्वारा अपना लीगयी । यदि कहो कि वह सुन्दरी थी तो दया सिन्धो ! कुब्जा कहाँ की रूप गुणवती थी, उस पर भी आपने कृपा की । आप कह सकते हैं वह बड़े नगर में निवास करने वाली सुशीला सभ्या थी । तो प्राणेश ! मिलनी तो जंगल की रहने वाली थी, अधम जाति की थी, वृद्धा थी और नगर के सदाचारों से भी परिचित नहीं थी । इन सब उदाहरणों से मेरी विनती यही है कि हे मेरे सर्वस्व ! मुझे भुलाओ मत । मेरी भी अरजी सुन लो और लापरवाही के साथ नहीं, दोनों कानों को

खोलकर । यदि कहो तू पूजा-पाठ आचार-विचार तो जानती ही नहीं, तो हे पतितपावन ! यदि आचारवती, रूपवती, गुणवती को ही तुम तारो तो तुम्हारी तारीफ ही क्या रही । मैंने तो यही सुना है—

भक्त्या तुष्यत कैवलेन तु गुणैर्भक्ति प्रियोमाधव ।

आप गुणों से तुष्ट नहीं होते, भक्ति से तुष्ट होते हैं, क्योंकि आप को भक्ति बहुत प्यारी है । यदि गुणों की तरफ देखते तो भीलिनी ने तो अपराध किया था, तुम्हें अपने जूठे बेर चखाये थे—

अच्छे मीठे चाख-चाख, बेर लाई भीलणी,
ऐसी कहा आचारवती, रूप नहीं एक रती,
नीच कुल ओछी जात, अति ही कुचालणी ॥
जूठे फल लीन्हे राम, प्रेम की प्रतीत जाण
ऊँच नीच जाने नहीं, रसको रसीलणी ॥
ऐसी कहा वेद पढ़ी, छिन में विमाण चढ़ी ।
हार जी सूँ बाँधो हेत, वैकुण्ठ में भूलणी ॥
ऐसी प्रीतिकरे सोइ, दास तरे मीरा जोइ,
पतित-पावन प्रभु, गोकुल अहीरणी ॥

इन सभी भगवान के गुणों के माहात्म्य को कथन करके मीरा प्रार्थना करती है, प्रभो ! मुझमें तो कोई ऐसा गुण नहीं कि आप मुझे उस गुण के कारण अपना लें । अनंत गुणों की खान तो आप ही हैं । मुझे सहारा आपकी भक्त-वत्सलता का है । अनेक उदाहरण ऐसे मिले हैं, कि आप पतितों को भी प्यार करते हैं, उन्हें भी अपना लेते हैं । उसी आपके विरह के सहारे मैं कृपा की भीख माँगती हूँ । इस पर भी जोर नहीं देती, आग्रह नहीं करती, मेरी तो बिनती है ।

‘मीरा की अरजी सुनलो, चरण लगाओ थांरी मरजी ।’

प्रेम में पुनरुक्ति दोष नहीं होता। दूसरे शब्दों में कहना चाहिये कि प्रेम में निरंतर पुनरुक्ति ही होती है। जब अनेक हों तब ध्यान रखा जाता है कि यह बार २ न आने पावे, किन्तु प्रेम तो एक ही चीज है। बात एक ही कहनी है बार २ कहो, घुमाकर कहो, सीधे से कहो। बात एक ही है। जैसे बार २ साँस लेने में पुनरुक्ति दोष नहीं, मीठी चीज को बार २ खाना जैसे अनावश्यक नहीं मानते वैसे ही आसक्ति में एक ही बात कही जाती है। क्योंकि वह कहने वाला तो विरही है, दुखी है उसे इस बात का स्मरण कहाँ रहता है कि इस बात को मैं अभी कह चुका हूँ। वह तो फिर-फिर उसे ही कहता है।

आरत के चत रहत न चेनु, पुनि पुनि कहे आपनो हेतु :

पुराणों में क्या है, उन्हीं भगवत्-गुणों की पुनरुक्ति है। बहुत सी कथायें सभी पुराणों में हैं। एक ही भगवान् व्यास देव के बनाए हुए पुराणों में वे ही कथायें हेर-फेरकर रख दी गयी हैं। वे ही सब महाभारत में भी हैं। और लावें भी कहाँ से। वे तो नित्यनूतन हैं। परितृप्ति तो इस मार्ग में भारी दोष है। भगवत्-गुणों में यह कभी भी न कहना चाहिए कि इन कथाओं को तो हम कई बार सुन चुके हैं, अब बार २ क्या सुनें। नहीं ये हमारे अन्तःकरण की खुराक हैं। आप रोज पानी पीते हैं, गर्मी में कह दें कि इतना तो पानी पीचुके हैं अब बार २ क्या पीवें, तो कंठ सूखने लगेगा, बेचैनी बढ़ने लगेगी। इसी तरह भक्त एक क्षण भी भगवन्नाम और भगवत्-महात्म्य सुने अथवा कहे बिना नहीं रह सकते। उन्हें एक ही नाम प्रतिक्षण दुहराने में एक नूतनता का आभास होता है। एक ही भगवत्-

सम्बन्धी लीला का कथन करते २ वे छंद नहीं होते । फिर २ उसे कहते हैं । इसी प्रकार मीरा ने अनेक बार दुहरा-दुहरा कर उन्हीं अशरण-शरण प्रभु की उन लीलाओं का वर्णन किया है जिनमें उन्होंने पतितों को उद्धारा है । अभी जो बात कही थी अभी जो उदाहरण देकर सरकार के सामने बिनती की थी, फिर उसे ही दुहरा कर कहती है—

गुण लीजा बिनती मारी, मैं शरण गद्दी प्रभु तोरी ॥१॥
 तुम तो पतित अनेक उधारे, भव सागर से तारे ॥२॥
 मैं सबका तो नाम न जानूँ, कोई कोई नाम उचारे ॥३॥
 अंबरीष सुदामा नामा, तुम पहुँचाये निजधामा ॥४॥
 भ्रुवजो पँच वर्ष के बालक, तुम दरश दिये घनश्यामा ॥५॥
 घना भक्त का खेत जमाया, कबिराका बैल चराया ॥६॥
 शबरी का जूठा फल खाया, तुम काज किये मन भाया ॥७॥
 सद्गता औ सेना नाई को तुम कीन्हा अपनाई ॥८॥
 करमा की खिचड़ी खाई, तुम गरुडिका पार लगाई ॥९॥
 मीरा प्रभु तुमरे रंग राती, या जानत सब दुनियाई ॥१०॥

मीरा भगवान से विनय करती है, उनका विरह बताती है, उनकी कृपापूर्ण घटनाओं की स्मृति दिलाती है और अपनी दोनता दिखाकर प्रार्थना करती है । यह तो अपने स्वामी के प्रति कर्तव्य हुआ । जब देखती है कि मन मानता ही नहीं । वह नटखट बहुत मना करने पर भी संसारी विषयों का चिंतन करता है; भगवत् गुण माहात्म्य में टिकता ही नहीं । तब मीरा मन को समझाती हुई उसे भगवान के अनंत गुणों का महात्म्य सुनाती है, उस हठीले शिष्य को पाठ पढ़ाती है । वह कहती है -

भज ले रे मन गोपाल गुना ।

अधम तरे अधिकार भजन सू, जोइ आये हरि सरना ।

अविश्वास तो साख बताऊ, अजामील गाणका सदना ॥१॥

जो कृपाल तन मनघन दीन्हो, नैन नासिका मुख रसना ।

जाको रचत मास दस लागे, ताहिन सुमिरो एक छिना ॥२॥

बालापन सब खेल गंवायो, तरुण भयो जब रूप घना ।

बृद्ध भयो जब आलस उपज्यो, माया मोह भयो मगना ॥३॥

मज अरु गीधहु तरे भजन सू, कोउ तरथ्यो नहि भजन बिना ।

घना भगत पीपा भुनि सवरी, मीरा की हूँ करो गणना ॥

मनको समझा कर मीरा कहती है, अरे ये सब भजन के प्रभाव से ही तो तर गये । ऐसे दयालु प्रभु को छोड़कर विषयों के कीचड़ में फँसेगा तो लख चौरासी योनियों में भटकता फिरेगा । उन नंद नंदन के कमल रूपी चरणों की धूलि का आश्रय ले ले, तो इस अथाह भवसागर में कभी भी न डूबेगा । क्योंकि कमल तो सदा जलमें ही रहता है, उसकी परागतक जल पहुँचता ही नहीं । जलमें रहते हुए भी उस कमल धूलि के कण निर्लिप्त हैं ।

मीरा की प्रेम-साधना बड़ी ही ऊँची है । वह अपने प्यारे गिरधरलाल के रंग में तो अनादि काल से ही रंगी थी, उसे तो कोई साधन करना शेष ही नहीं था, केवल श्री जी की आज्ञा शिरोधार्य करके वह इस दुःखपूर्ण संसार को अनंत सुख का दिग्दर्शन कराने को ही प्रकट हुई थी । उसने प्रेम, विनय, भक्ति का सजीव चित्र संसार के सामने उपस्थित कर दिया । उसकी गिरधरलाल गुणमाहात्म्यासक्ति अद्वितीया है । वह अपने ही

मनको नहीं सबको लक्ष्य करके निरंतर पगली की तरह रोती २
बीणा की झंकार में अपना स्वर मिलाकर गाया करती थी—

मन रे परसि हार के चरण ।

सुभग सीतल कँवल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण ।

जिण चरण ध्रुव अटल कीणो, राखि अपनी सरण ।

जिण चरण प्रह्लाद परसे, इन्द्र पदवी धरण ।

जिण चरण ब्रह्मांड भेद्यो, नख सिखौ सिरी भरण ।

जिण चरण प्रभु परसि लीणो, तरी गौतम धरण ।

जिण चरण कालीनाग नाथ्यो, गोपलीला करण ।

जिण चरण धारथौ गोबरधन, गरब मधवा हरण ।

दासि मीरा लाल गिरधर, अगम तारण तरण ॥

मीरा की रूपासक्ति

गोप्यस्तपः किमचरन् यदमुष्यरूपम् ।

लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ॥

दृग्भिः पिवन्त्यनुसवाभिनवं दुराप—

मेकान्तधाम यशसः श्रिय ऐश्वरस्य ॥*

ब्रज के प्रायः सभी रसिक भक्त कवियों ने उस ब्रजबिहारी को रूप-माधुरी का बड़ा ही सजीव वर्णन किया है। जो सुख उन्हें उस नव ब्रजचंद के नख सिख वर्णन में आता है, उसकी

*पता नहीं इन ब्रज-बालाओं ने पूर्वजन्म में कौन से पुण्यप्रद कर्म किये हैं कि जो सुन्दरता की राशि हैं, जहाँ पर सौन्दर्य की परिसमाप्ति है और जो सौन्दर्य के सार हैं, जो स्वयंसिद्ध यश, श्री और ऐश्वर्य के एकमात्र आलय हैं, जिनके दर्शन अपुण्यवानों को हो ही नहीं सकते और जिनका सौन्दर्य प्रतिक्षण नवीन ही होता जाता है। अर्थात् बढ़ता ही जाता है, उन यशोदानन्दन की रूप-माधुरी को वे अपने नेत्ररूपी अजलि पुटों में भरकर परम आसक्ति के साथ अवृत्त भावसे पीती ही रहती हैं।

तुलना करना या कथन करना मानवीय शक्ति के बाहिर की बात है। एक-एक अंग के वर्णन में उन भावुक कवियों ने कमाल कर दिया है। उन्होंने तो उस सौन्दर्य-राशि को प्रत्यक्ष किया ही होगा, किन्तु हम साधारण प्राणी जब उनकी उस प्रेम भरी वाणी को पढ़ने लगते हैं, तो हमारे सामने वह मनमोहनी मूरति नाचने लगती है और जी चाहता है कि यह मदमाती मूरति कहीं मिल जाय तो इसे बिना संकोच के छाती से चिपका लें और इस तरह कसकर अपने बाहुपाश में बाँध लें कि फिर भागने न पावे।

इन सभी कवियों में रसखान जी ने तो रूप-माधुरी के वर्णन में इति कर दी है। इनके वर्णन सुन्दर भी सजीव वर्णन कोई कर सकेगा, ऐसा अनुमान करना हमारी शक्तिके बाहर की बात है। वह बूढ़ा मुसलमान मस्त होकर, दोनों हाथ फैला कर अपनी सुरीली तान से एक करील की कुंज में सामने देखिये क्या गा रहा है—

नैन लख्यो जब कुंजन ते बनिकै निकस्यो मटक्यो मटक्यो रो।

सोहत कैसो हरा टटको सिर तैसे किरिट लसै लटक्यो रो॥

को रसखान रहे अटक्यो हटक्यो ब्रजलोग फिर मटक्यो रो।

रूप अनूपम वा नट को हियरे अटक्यो अटक्यो अटक्यो रो॥

सचमुच में उस नट का रूप है ही ऐसा कि जहाँ वह अटक जाता है, फिर अटका ही रहता है। वह टेढ़ा है घुस तो आसानी से जाता है, किन्तु फिर निकलता नहीं और भीतर ही धँसता जाता है, रसखान अपनी सखी से कहलाते हैं—

सोहत है चंदवा सिर मोरके तैसिये सुन्दर पाग कसी है।

तैसिये गोरज भाल विराजत तैसी हिये वनमाल लसी है॥

रसखानि विलोकत बौरी भई दृग मूँद के ग्वालि पुकार हँसी है ।

खोल री घूँघट खोलों कहाँ वह मूरति नैनन माँझ वसी है ।

यह उस रूप-माधुरी की विशेषता है । जहाँ मूर्ति मनमें समानी नहीं कि रग रग में वह विंध जाती है ।

मोहनि मूरति श्याम की, मो मन रही समाय ।

ज्यों मि हदी के पात में, लाली लखी न जाय ॥

मन किसी सच्चे रूप को पकड़ले, बस, फिर उसके लिये संसार विलीन होजाता है, फिर तो—

लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल ।

लाली देखन मैं गई, मैं भी हूँ गई लाल ।

फिर तो जिधर देखता हूँ उधर तू ही तू है । मन में गढ़ना चाहिये । चोट लगकर एक मीठी सी कसक पैदा होजाय, फिर तो वह कसक बढ़ती ही जाती है बस, फिर तो 'मर्ज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की' । मन किसीको पकड़ भरले । बस, देरी है तो पकड़ने की । उसमें इन्द्रिय-सुखों की वासना न हो, फिर कोई भी रूप हो उसमें जड़, चेतन, आकृति, प्रकृति, चल अचल सगुण, निर्गुण का तो सवाल ही नहीं । आसक्ति चाहिये । जो क्षण भंगुर है नाशवान है उसमें की आसक्ति भी अस्थायी है, चिरकाल तक टिकने वाली नहीं है, क्योंकि तुम जिस रूप पर आसक्त होकर उसे अपनाते हो, वह तो प्रतिक्षण बदलता रहता है, फिर तुम्हारी आसक्ति क्यों न बदलेगी । चलती हुई गाड़ी पर चढ़ोगे तो पेड़, पत्ते, रास्ता, जमीन बदलती ही चलेगी । किन्तु उन घनश्याम के रूप में जो आसक्ति है, वह छूटने वाली नहीं । वह तो दिन दूनी रात्रि चौगुनी बढ़ती ही जायगी और अनंत काल तक बढ़ती ही रहेगी

मीरा की उन गिरिधरलाल के रूप में ऐसी ही आसक्ति थी। वह उस नन्दनन्दन के रूप में इतनी पगली हो गई थी कि उसने लोकलाज, कुलकानि किसी की भी परवाह नहीं की। उसने निशंक होकर ताल स्वर और लय को एक करके नाचते-नाचते गाया—

जब से मोह नन्द नन्दन दृष्टि पड़्यौ भाई ।
तब से परलोक लोक कछूना सोहाई ॥
मोरन की चन्द्रकला सीस मुकुट सोहै ।
केसर के तिलक भाल तीन लोक मोहै ॥
कुंडल की अलक भलक कपोलन पर छाई ।
मनो मीन सरवर तजि मकर मिलन आई ॥
कुटिल भुकुटि तिलक भाल, चितवन में टोना ।
खजन अरु मधुप मीन भूले मृगछौना ॥
सुन्दर अति नासिका सुग्रीव तीन रेखा ।
नटवर प्रभु भेष धर, रूप अति विशेषी ॥
अधर बिम्ब अरुन नैन, मधुर मन्द हॉसी ॥
दसन दमक, दाड़िम दुति चमकै चपला सी ।
लुद्र घंटा किंकिनी, अनूप धुनि सोहाई ॥
गिरधर के अंग अंग, मीरा बलि जाई ॥

अहा ! सचमुच में ये अंग प्रत्यंग बलि जाने योग्य ही हैं। बाई मीरे ! तुमने बलि जाने को अच्छा सुकुमार मनोहर वर चुना। ऐसी माधुरी पर भी बलि न जाकर इन तुच्छ बिषयों की प्राप्ति के पीछे जो पागल हैं अब उनके लिये हम क्या कहें। हम भी तो उन्हीं में हैं देवि !

रूप का वर्णन दो प्रकार से होता है—एक नख सिख तक दूसरा सिख से नख तक। प्रायः देखा गया है कि जहाँ भाव

भक्ति साधन का प्रसंग है वहाँ नख से ही अरंभ करके शिख तक ले जाते हैं, श्रीमद्भागवत में भगवान कपिल देव ने अपनी माता देवहूती को इसी प्रकार का ध्यान बताया है, उन्होंने 'संचिन्तयेत् भगवतश्चरणारविन्दं' कह कर दोनों चरणों का जानु, उरु, नितंब, नाभि, स्तनद्वय, वक्षःस्थल, कंठ, चतुर्भुजाओं तथा आयुधों का फिर, बदनारविन्द के समस्त अंग-प्रत्यंगों का वर्णन करके 'हासं हरे खनताखिल लोकतीव्र' कह कर भगवान की मंद मुसकान पर समाप्ति की है। गोस्वामी तुलसीदास, सूरदास आदि महा भागवत विश्व-कवियों ने भगवान के नखसिख का वर्णन किया है, किन्तु जहाँ प्रेम का प्रसंग आता है, वहाँ प्रायः सभी श्रीमुख से ही शुरू करते हैं और बस, अधिक से अधिक कण्ठ तक लाते हैं, क्योंकि परम प्रेमास्पद, जो कि हठात् अपनी ओर खींचती है, उन कृष्ण की बाँकी चितवन ही तो है। इसी से तो उनका नाम कृष्ण पड़ा है। इसीलिये प्रेमी कवि सभी उस रसीली, कटीली, नुकीली चितवन पर दूट पड़ते हैं। रसखान की सखी कहती है—

“भौंह कमान सु जोहन को सर बेधत प्राखन नन्द को छौनो ।”

दूसरी सखी कहती है—

“पै सजनी न सम्हार परै वह बाँकी विलोकन कोर कटाछैं ।”

सब से अधिक परिचय मुख से ही होता है। अंग-प्रत्यङ्ग को तो कोई परम प्रेमी ही पहिचानता है। मुख देखकर तो सभी पहिचान लेते हैं। सूरत तो मुख पर नाचा करती है। सूरत से ही आदमी जाना जाता है, मन उस सूरत में बस जाय, नैनों में वही मूरति नाचती रहे, चित्त में वही सूरत चढ़ जाय, बस यही रूपासक्ति है। मीरा कहती हैं—

मेरो मन वसि गो गिरधर लाल सों ।
 मोर मुकुट पीताम्बरो, गल बैजन्ती माल ।
 गउवन के संग डोलत हो जसुमति को लाल ॥१॥
 कालिन्दी के तीर हो कान्हा गउवाँ चराय ।
 सीतल कदम की छाहियाँ हो मुरली बजाय ॥२॥
 जसुमति के दुवरवाँ ग्वालिन सब जाय ।
 बरजहु आपन दुलरुआ हमसों अरुभाय ॥३॥
 वृन्दावन कीड़ा करै गोपिन के साथ ।
 सुर नर मुनि सब मोहे हो ठाकुर जदुनाथ ॥४॥
 इन्द्र कोप धन बरखो हो मूसल जलधार ।
 बूझत वृज को राखेउ मोर प्रान-अधार ॥५॥
 मीरा के प्रभु गिरधर हो सुनिये चितलाय ।
 तुम्हरे दरस की भूखी हो मोहँ कछु न सोहाय ॥६॥

सचमुच घर-द्वार न सुहाने की बात ही है। घर-द्वार बाल-बच्चे हमें इसीलिये प्यारे लगते हैं कि उनसे हमारा मन प्रसन्न होता है। जब मन अपना रहा ही नहीं, उसमें किसी दूसरे ने आकर अधिकार जमा लिया तब फिर कोई क्यों सुहाने लगा ?

मीरा की रूपासक्ति बड़ी ही गंभीर है। बालकपन में ही वह गिरिधर लाल की मनोहर मूर्ति को देखकर उस पर आसक्त हो गई और ऐसी आसक्त हो गई कि अपना बनाकर ही मानी। जब तक वह मिली नहीं तब तक न अन्न छुआ न पानी पिचा। वह मतवाली अपने भोले भाले मन को किसी टेढ़े-मेढ़े काले, और निरमोही वाल्हा को सौंप चुकी। सौंपकर वह पछि-ताई भी—

जो मैं ऐसा जानती प्रीति किये दुख होय ।

नगर ढिंदोरा फेरती प्रीति करो मत कोय ॥

किन्तु 'अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गई खेत'
मन पर दूसरे का कब्जा हो गया । वह भुलाया नहीं जाता ।
मरना तो उसी की सूरत पर मरना, जीना तो भी उसी की याद
करते-करते तड़पते रहना । इसीलिये उसके रूप पर रीझकर
उसने गाया है—

म्हारो जन्म मरण को साथी, थाने नहिं विसरूं दिन-राती ।

दुख देख्यां विन कल न पड़त है, जानत मेरी छाती ।

ऊँची चढ़ चढ़ पंथ निहारूं, रोय रोय अखियाँ राती ॥१॥

यो संसार सकल जग भूँठो, भूँठा कुल रा नाती ।

देऊ कर जोड़या अरज करत हूँ, सुण लीज्यो मेरी बाती ॥२॥

जो मन मेरो बड़ो हरामी, ज्यूँ मदमातो हाथी ।

सव् गुरु हाथ परथो सिर ऊपर, आँकुश दे समुझाती ॥३॥

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, हसि चरणां चित राती ।

पल-पल तेरा रूप निहारूं, निरख निरख सुख पाती ॥४॥

मीरा की पूजासक्ति

अहं हरे तव पादैक मूल दासानुदासो भविताऽस्मि भूयः ।

मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते शृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥ॐ

प्रियतम को-जिस तरह सुख-सुविधा पहुँचे उन उन कर्मों को करते रहने का नाम ही पूजा है । पूजा में अपने शरीर-सुख की परवाह नहीं । अपनी परम प्रसन्नता तो इसी में है कि पूजनीय को सुख मिले । पूजा के विविध प्रकार हैं—पंचोपचार, षोडशोपचार । ये पूजायें विहित और विधियुक्त हैं । अखली पूजा तो यह है कि प्रतिक्षण प्रियतम का सुख जोहा करें । प्रियतम पलंग पर पौड़े हैं, अहा, कैसी सुन्दर बाँकी छटा है, मानो नीले जल के प्रतिबिम्ब में

ॐ हे हरे ! मैं तुम्हारे चरणों के आश्रय रखने वाले दासों का भी दास पुनः पुनः होता रहूँ, मेरा मन मधुप हे प्राणेश्वर, तुम्हारे पाद-पद्मों में गुंजार करता रहे, वाणी से तुम्हारे जगन्मंगल नामों का उच्चारण होता रहे और मेरे शरीर से तुम्हारी पूजा-सम्बन्धी ही कर्म होते रहें ।

शान्त पूर्ण चन्द्रमा स्तब्ध हुआ सो रहा हो, दो मुँदे हुए कमल-नयन उसके ऊपर सुशोभित हो रहे हों, सुन्दर भौंहे मुँदे हुए भौंरे के पग हों। प्यारे ने अँगड़ाई ली। रोम-रोम खिल उठे। अरबरा कर अर्धोन्मीलित नेत्रों से प्रिय सजन आवे पलंग से उठे। हाथ का सहारा देकर उन्हें उठा लिया। नित्य क्रिया का सभी सामान जुटा दिया। सुकोमल श्रीअंगों में हलके हाथों से उबटन लगाया, धीरे धीरे मालिश की और फिर उन्हें शुद्ध सुगंधित जल से स्नान कराया। गर्मी में शीतल जल से खूब स्नान कराया और जाड़े में थोड़े गुन गुने जल से श्री अंग पर जो जल-कण हैं, उन्हें सुन्दर साफ प्रोक्षण से पोंछा। उन्हें सिंहासन पर पधरा दिया। फिर विविध प्रकार के रुचि के अनुसार रुचिर व्यंजन बनाये। षट रसों से युक्त सुन्दर से भी सुन्दर जितने बना सकते थे सभी बनाये। सामने सजा सजाया थाल रखा, प्रियतम जीमने लगे, अपने आप पंखा लेकर धीरे २ उनकी हवा कर रहे हैं। जो व्यंजन रुचिकर हो उसे बार बार आप्रहपूर्वक देना। भोजनोपरान्त कुल्ला कराके सुन्दर स्वादिष्ट बीड़ा मुख-शुद्धि के लिये समर्पित करना। पुनः आराम करने को पलंग पर पौड़ा देना। शनैः शनैः चरणों को चाँपते हुए उनसे मीठी मीठी प्रेमयुक्त वाणी कहना। उनके मनोभावों को समझ कर बड़ी सावधानी से सेवा करना। इसी तरह जागने से सोने पर्यन्त जो जो भी उनके सुख कर कार्य हों, उन्हीं में तल्लीन रहने का नाम यथार्थ सेवा है।

सेवा में भावना तो अपनी रहती है, अर्थात् जो अपने को अत्यन्त प्रिय प्रतीत हो उसे ही श्रद्धा-सहित सेव्य की सेवा में समर्पित करना, किन्तु अपने को सुख उनकी प्रसन्नता में

ही है। यदि नरक जाकर भी प्रियतम को सुख पहुँचा सकें तो उस नरक को स्वर्ग और ब्रह्मलोक से भी बढ़कर मानना। एक कथा है—भगवान की पटरानियों ने जिज्ञासा की कि प्रभो ! आप गोपियों के प्रेम की बड़ी प्रशंसा करते हैं, उनमें ऐसी कौन-सी विशेषता है, जिसे हम नहीं कर सकतीं।' उस समय तो प्रभु ने बात टाल दी थी। कुछ दिनों के पश्चात् उनके श्रीअंग में पीड़ा हुई। भौंति २ के उपचार हुए सब व्यर्थ। तब भगवान ने स्वयं कहा—'एक उपचार से यह पीड़ा मिट सकती है, यदि सब रानियाँ अपनी चरण धूलि दें और उसे मैं चाटूँ और शरीर पर लगाऊँ तो यह पीड़ा न रहेगी।' पटरानियों से कहा गया। उन्होंने कहा—'भला यह भी कभी हो सकता है, हमें तो नरक में भी स्थान न मिलेगा। महाराज ! यह अनहोनी बात न कहो, उलटी गंगा मत बहाओ।' भगवान ने उद्धव से कहा—'भाई ! यहाँ तो औषधि मिलती नहीं। तुम ब्रज में जाकर गोपियों से भी तो पूछ आओ, देखें वे क्या कहती हैं।' उद्धव गये सब वृत्तान्त सुनाया। सुनकर गोपियों ने कहा—'हाँ, यह बात है ? हमारी चरणधूलि से उन श्याम सुन्दर को सुख मिलेगा ? तो उद्धव जी ! जितनी गाड़ियों की जरूरत हो भर ले जाओ। कहो तो चरणामृत भी दे दें। हमें नरक, स्वर्ग, लोकलाजकी परवाह नहीं। वे चित्तचोर सुखी हों चरणधूलि तो कोई बात ही नहीं।' यह सच्ची सेवा का एक आदर्श है। प्यारे को जिसमें प्रसन्नता हो वही धर्म है, वही कर्तव्य है। जिस रूप से रीर्मे वही रूप बनाना, यही सेवक का धर्म है।

मीरा ने अपना सर्वस्व गिरिधर लाल जी पर वार दिया था। उसके जितने भी काम होते थे, सब उन साँवरे की सेवा

ही होती थी। सेवा को छोड़कर उसे दूसरा काम ही नहीं था। भगवत्-सेवा और उनके भक्तों की सेवा, यही संसार में कार्य हैं। जो भी कार्य हों वे भगवत् सम्बन्धी हों। श्रीमद्भागवत् में नलकूबर मणिप्रोव ने बालकृष्ण श्रीनन्दनन्दन से यही तो प्रार्थना की है—

वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसुमनस्तव पादयोर्नः ।
स्मृत्याशिरस्तव निवास जगत् प्रणामे दृष्टिः सता दर्शनैस्तु भवत्तनूनां ॥

हे प्रभो ! हमारी वाणी एक मात्र तुम्हारे गुणों के कथन में ही काम आवे, कर्ण सदा तुम्हारी कमनीय कथाओं का ही श्रवण करते रहें, हाथ तुम्हारे मंदिर की भारू-बुहारी तथा पूजा में ही सदा लगे रहें हमारा मन मधुप सदा तुम्हारे चरणविंदों का चितन करता रहे, सिर सदा तुम्हारे स्वरूप सम्पूर्ण जगत् को निरंतर प्रणाम ही करता रहे, किसी के सामने भी अहंकार से ऊँचा न उठे, सबके सामने नल होता रहे और दृष्टि तुम्हारे श्रीविग्रह के दर्शनों में या तुम्हारे भक्त साधु-सन्तों के दर्शनों में ही लगी रहे, इनको छोड़कर और किसी की ओर दृष्टि भी न उठे। 'बावरी वै आँखियाँ जरि जायँ जो साँवरों छाँड़ि निहारति गोरो।' बस, यही भक्ति है। मीरा का जीवन इसी साँचे में ढला था। वह वाणी से सदा गाती रहती थी 'मन रे परसि हरि के चरण' 'माई मैंने गोविन्द लीन्हो मोल।' कानों से वह साधु-मण्डली में बैठकर गिरिधर लाल की कथाओं को ही सुनती रहती है। अपने ही हाथों से वह मंदिर को बुहारती। गिरिधर लाल जी की पूजा करती, उनके लिये पुष्प चुनती, हार बनाती और उन्हें भाँति २ के भोग अर्पण करती। मन को वह सदा

समझाती रहती और फिर अपने प्यारे के सामने गाती भी थी।

‘मेरे मन राम नाम वसी’ ‘मेरे मन रामहि राम रटैरे’ ‘मेरे मन वसिगो गिरधर लाल सो’ मेरो मन लागो हरि जूँ सूँ’ ‘मेरो मन हरि सूँ जोरयो’ वह किसीको भी अपने साँ वरेके अतिरिक्त नहीं समझती थी। वह सच्ची पतिव्रता थी। अतः साफ कह देती थी कि दूसरे की आशा करना मेरे व्रत के विरुद्ध है। अतः उसके लिये संसार में एक ही पुरुष था, वह गिरधर लाल और उन्हें वह प्रति पल प्रणाम करती थी। दर्शन तो वह साधु संत और अपने प्राणनाथ के सिवा किसी के करती ही न थी वह; साफ कहती थी ‘साधू मात-पिता कुल मेरे’ सजन सनेही ज्ञानी। संत चरन की सरन रैन दिन सत्त कहल हूँ वानी ॥’ ‘साधु तो माई बाप हमारे’ सखियाँ क्यों घबड़ात ॥’ ‘साधू संगत में दिल राजी। भई कुटुम्ब सूँ न्यारी’ या वह कहती थी ‘मनलागों रमतां राम सूँ’

प्रातः काल से लेकर रात्रि तक उसे पूजा से ही अवकाश नहीं मिलता। यही उसका अष्ट प्रहर का व्यापार था। प्रातः काल हुआ, उसने अपने वीणा विनिदित स्वर में गाना प्रारंभ किया—

जागो म्हारा जगपति राइक हंसि बोलो क्यूँ नहीं ।
हरि छो जी हिरद गाँहि पट खेलो क्यूँ नहीं ॥
तन-मन मुरति संजोइ, सीस चरणाँ धरूँ ॥
जहाँ जहाँ देखूँ म्हारो राम जहाँ सेवा करूँ ॥
सदकैँ करूँ जी सरीर, जुगैँ जुग वारणौ ।
छोड़ी छोड़ी कुल की लाज, साहेब तेरे कारणौ ॥

घोड़ी थोड़ी लिखू सिलाम बहोत करि जाणज्यौ ।
 बन्दी हूँ खाना जाद महरि करि मानज्यो ॥
 हों हो म्हारा नाथ सुनाथ विलम नहि कीजियै ।
 मीराँ चरणों की दासि दरस अब दीजियै ॥

प्रेम में एक बड़ी विचित्रता है कि चाहना तो कुछ नहीं, सदा डरते ही रहना कि ऐसा न हो, मेरी सेवा से स्वामी असंतुष्ट हो जायँ। सेवा के साथ में मीठा-मीठा भय बना रहे तो वह कितनी मधुर, कितनी नमकीन बन जाती है। सेवा करना कोई सहज काम थोड़ा ही है। स्वामी के मन को सदा जुगवता रहे कि कब स्वामी की क्या इच्छा होती है तभी तो कहा है 'सेवा र्मः परम गन्धर्वो योगिनामप्यगम्यः' उस सेवा को मीरा करती थी। दोपहर हो गया। सभी प्रकार के व्यंजन तैयार हैं। दासी मीरा खड़ी अरज कर रही है—

तुम जीमो गिरधर लाल जी ।
 मीरा दासी अरज करै छूँ, सुनिए परम दयाल जी ।
 छप्पन भोग छतीसो बिजन, पावो जन प्रतिपाल जी ॥
 राज भोग आरोगो गिरधर, सनमुख राखो शाल जी ।
 मीरा दासी चरण उपासी, कीजे बेग निहाल जी ॥

मीरा की पूजा में इतनी अधिक असक्ति थी कि वह अपने स्वामी को आँखों से ओझल देखना नहीं चाहती थी, बस, यही कि तुम हमें देखा करो और हम तुम्हें देखा करें।' यदि इतना न भी करो तो इतना तो जरूर हो कि 'तुम हमें देखो न देखो हम तुम्हें देखा करें। वह दूसरों पर भरोसा नहीं रखती कि किसी और के द्वारा स्वामी की ठीक ठीक सेवा हो सकेगी या

नहीं। इसीलिये वह चाहती थी कि जो कुछ भी करना हो, अपने हृदयेश्वर को सामने बिठाकर हो। इसीलिये तो वह व्याकुलता के साथ गाती है—

मैं तो म्हाारा रमैया ने देखा करूँरी।

तेरो ही उमरण तेरो ही सुमरण, तेरो ही ध्यान धरूँरी ॥

जहाँ जहाँ पाँव धरूँ घरणी पर, तहाँ तहाँ निरत करूँरी।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, चरणों लिपट परूँरी ॥

मोरा की स्मरणासक्ति

विपदो नैव विपदः सम्पदो नैव सम्पदः

विपद् विस्मरणं विष्णोः सम्पन्नारायणस्मृतिः ॥*

मन एक है, आकाश एक है, शब्द एक है ईश्वर एक है आत्मा एक है। द्वैत की तो कोई बात ही नहीं। सूर्य का प्रकाश सर्वत्र समान ही पड़ता है, यदि उसके बीच में बादल, दीवाल या और किसी चीजका अन्तराय न हो तो। एक जगह आप कोई बात कहें, वह सर्वत्र आकाश मंडल में छा जायगी। आप जिसका स्मरण करते हैं, जिसकी चिन्ता करते हैं वह हठात्

* हमें कोई रोग हो, दूसरे पुरुष क्रेश पहुँचावे यातनायें दें, यह दुख असल में दुख नहीं है और खूब धन हो, सुंदर सुयोग्य आज्ञाकारी स्त्रीपुत्र हों, सर्वत्र मान प्रतिष्ठा हो यह सुख भी यथार्थ सुख नहीं है। यथार्थ में सुख तो भगवान की स्मृति बनी रहे यही है और जिस समय उनका विस्मरण हो जाय वही सबसे बड़ा दुःख का है।

आपकी ओर आकर्षित हो जायगा, यदि बीचमें विषय वासनाओं का पर्दा न हो तो। हम अपने मनमें किसो की बुरी २ बातों का चिन्तन करें तो हमारे मन में तों बुराइयाँ आही जाएँगी उसके मनमें भी हमारे प्रति बुरे भाव उठेंगे, चाहे वह कितनी भी दूर क्यों न बैठा हो।

इसी प्रकार जब हम किसो के प्रति अपने मनमें प्रेम भाव बनाये रखेंगे, उसे सदा स्नेह से स्मरण करेंगे तो उसके मनमें भी हमारे प्रति प्रेम प्रकट होगा और और वह हमें दूर बैठा हुआ भी प्रेमपूर्वक याद करता रहेगा। जिस भाव से स्मरण कीजिये, आपको उसी भाव में तन्मयता हो जायगी। विषयी विषयों के भावों में तन्मय हो जाता है, प्रेमी प्रेमके भावों में। इसमें स्मरण करने वाले की भावना प्रधान है। भगवान के स्मरण में यह बात नहीं। आप उन्हें द्वेष से, काम से लोभ से कैसे भी स्मरण कीजिये, भगवान आपको अपना लेंगे। इसीलिये कहा है 'क्रोधोऽपि देवस्यवरेणतुल्य' अर्थात् श्रीहरिका क्रोध भी वरदान के ही तुल्य है। भावनानुसार वे भी अपनाते हैं। उनमें स्वतः तो काम-क्रोध-द्वेष ईर्ष्या है नहीं, किन्तु शिशुपाल, कंस उनका चिन्तन द्वेष तथा भय से करते थे, 'चिन्तयानो हृषी केशमपश्यत्तन्मयजगत्' इसलिये भगवानने भी द्वेषियों के लिये द्वेष के रूप से और भय-भीतों को भय के रूप से मुक्ति दी। भगवान से कोई भी सम्बन्ध जोड़ लीजिये चाहे शत्रुका मित्रका, दासका, सखाका, भगवान का अथवा पतिका, बस, फिर वे अपना ही बना लेंगे। कैसे भी उनका सतत स्मरण करो। किसी भाव से सही, स्मरण सतत होना चाहिये।

सतत स्मरण के साथ वह स्मरण अनन्य भी होना चाहिये। यह हृदय की कोठरी इतनी छोटी है कि इसमें दो एक साथ

रह नहीं सकते। 'जहाँ राम तहाँ काम नहीं जहाँ काम नहीं राम।' बस, वही अपना सर्वस्व है, यदि उसमें पुत्र भाव है तो बस, वही एक पुत्र है और कोई नहीं। यदि मित्र भाव है तो वही अपना सच्चा मित्र है बाकी सब जग-जंजाल है। स्मरण की सिद्धि अनन्यता के ही ऊपर निर्भर है। स्मरण में जितनी ही अनन्यता होगी, जितनी ही अन्यो की अपेक्षा कम होती जायगी उतनी ही तन्मयता बढ़ती जायगी। मीरा के स्मरण में अनन्यता थी, वह बार २ कहती, 'मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरा न कोई।'।

अपने इष्ट की पुनः पुनः आवृत्ति करने का ही नाम स्मरण है। जब तक वह याद न हो जाय, रोम-रोम में रम न जाय तब तक बराबर स्मृति बनी ही रहनी चाहिये। जब वह रग-रग में विध गया, परमाणु-परमाणु में एकतानता स्थापित कर ली, तब फिर स्मरण कौन करे और किसका करे। साँभर की भील में नमक की डली तभी तक बराबर थाह लेने को घुसती जायगी जब तक उसका अपना अलग अस्तित्व है, जब उसके कण उसी में एक हो गये तो कौन थाह ले और कौन ऊपर आकर बतावे। स्मरण ही हमें स्मरणीय के स्वरूप में मिला देता है। जहाँ एक बार स्मरण का चस्का लग गया वहाँ फिर और कुछ श्रुति ही नहीं। मीराबाई का स्मरण ऐसा ही था। राम-नाम-स्मरण के बल पर ही वह जहर को अमृत करके पी गई। उसने गाया है—

यो तो रंग धत्तां लाग्यो ए माय ।

पिया पियाला अमर रसना, चढ़ गई धूम धुमाय ।

यो तो अमल म्हायो कबहुं न उतरै, कोटि करो न उपाय ॥१॥

सोंप पिटा रो राणा जी भेल्यो, धो मेड़ताजी गल डार ।
 हँस हँस मीरा कण्ठ लगायो, यो तो म्हारो नौसर हार ॥२॥
 बिष को प्यालो राणा जी भेल्यो, द्यो मेड़तणी ने प्याय ।
 कर चरणा मृत पी गई रे, गुण गोविन्दरा गाय ॥६॥
 पिया पियाला नाम का रे, और न रंग सुहाय ।
 मीरा के प्रभु गिरधर नागर, काचो रङ्ग उड़ जाय ॥४॥

असल में नाम-स्मरण में दृढ़ता ही मुख्य वस्तु है । राम-
 नाम स्मरण करने वाले को संदेह और भय का क्या काम ।
 'राम नाम जपतां कुतो भयम्' । संदेह हमें तभी तक है जब
 तक कि हमें इन संसारी पदार्थों से, संसारी वस्तुओं से आशा
 है, जब तक सोलहो आना प्रभु ही के नहीं हो जाते; उन्हीं पर
 अपना सर्वस्व समर्पित नहीं कर देते तभी तक हम दुखी भी
 हैं और चिन्तन भी हमारा अनन्य नहीं हो सकता । जहाँ मन
 ने राम-नाम रटना शुरू किया तहाँ करोड़ों जन्मों के विघ्न
 कर्म जल कर राख हो जाते हैं । इसीलिये मीरा गाती है—

मेरो मन रामहि राम रटै रे ।

राम नाम जप लीजै प्राणी, कोटिक पाप कटै रे ।

जनम जनम के खत जु पुराने, नामहि लेत फटै रे ॥

कनक कटोरे अमृत भरियो, पीवत कौन नटै रे ।

मीरा कह प्रभु हरि अविनाशी, तन मन ताहि पटै रे ॥

स्मरण में सब से आवश्यक बात है, कष्ट-सहिष्णुता ।
 कष्टों की परवाह ही न हो प्रियतम का स्मरण बना रहे फिर
 चाहे शरीर कुछ भी हो जाय । श्रीमन्महाप्रभु चैतन्यदेव के कृपा-
 पात्र भक्त श्री हरिदास जी को यवनों ने कोड़ों से मारते-मारते
 घायल कर दिया, किन्तु उन्होंने स्पष्ट कह दिया—'चाहे तुम
 इस शरीर के टुकड़े २ क्यों न कर दो मैं हरिनाम न छोड़ूंगा ।'

अपने प्रियतम को पाने के लिये सभी प्रकार के कष्टों को सहन करता हुआ निरन्तर नाम रटता रहूँगा; कभी तो वह सुनेगा ही—

राम-राम रटते रहो, जब लौं घट में प्रान ।

कबहूँ दीनदयाल के, भनक पड़ेगी कान ।

उसके नाम की लौ लगी रहे बस, यही चाहिये । और संसारी काम बने तो वाह वाह न बने तो वाह वाह । अपने राम को तो उसके रंग में रँग जाना है । उस निर्मोही की चेरी बनने में, उसी का नाम-स्मरण करने में ही मीठा-मीठा मजा है । अब तो लगन लग गई है, उसे पूरी उतारनी होगी । इसीलिये मीरा कहती है—

राम नाम मेरे मन बसियो, रसियो राम रिभाऊँ ए माय ।

मैं मन्द-भाग्या करम अभाग्या, कीरत कैसे गाऊँ ए माय ।

विरह पिजर की बाड़ सखी री, उठकरजी हुलसाऊँ ए माय ।

मनकुं मार सजूं सतगुरुसू, दुरमत दूर गमाऊँ ए माय ॥

ढाँको नाम सुरत की डोरी, कड़ियाँ प्रेम चढ़ाऊँ ए माय ।

प्रेम को ढोल बणयो अति भारी, मगन होय गुण गाऊँ ए माय ।

तन करूँ ताल मन करूँ ढपली, सोती सूरति जगाऊँ ए माय ।

मो अवला पर किरपा कीज्यो, गुणगोविन्द का गाऊँ ए माय ।

मीरा के प्रभु गिरधरनागर, रज चरणन की पाऊँ ए माय ॥

सचमुच यदि स्मरण बन जाय, तार न टूटे तो चरण-कमल-रज तो मिलही जायगी । उसके लिये और अलग से पू्यन्न न करना पड़ेगा । इसीलिये तो स्मरण-निष्ठ भक्त दर्शनों की भी परवाह नहीं करते, उनकी तो वासना है कि हमें सदा भगवत्-स्मरण बना रहे, बस यही हमारी आंतरिक अभिलाषा है ।

जैसा कि पहिले बता चुके हैं, स्मरण में अंतराय काम क्रोध मद लोभ मोह, आदि शत्रु ही हैं। स्मरण में सत्संगति परम सहायक है। तभी तो मीरा कहती है 'संतन ढिंग बैठि बैठि लोक लाज खोयी' सच्चे संतों के बीच में हरि-चर्चा ही निरंतर होती रहती है और उसी से स्मरण सदा अविच्छन्न बना रहता है। इसीलिये मीरा ने गाया है—

राम नाम रस पीजै, मनुआं राम नाम रस पीजै ।
तज कुसङ्ग सतसङ्ग बैठ नित, हरि चरचा सुनि लीजै॥
काम क्रोध मद लोभ मोहकूँ, बहा चित्त से दीजै ।
मीरा के प्रभु गिरधर नागर, ताहि के रङ्ग में भीजै ॥

मीरा की दास्यासक्ति

तन्नः प्रसीद वृजिनार्जन तेऽधिमूलम् ।
प्राप्ताविसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ॥
त्वत् सुन्दरास्मिर्तानिरीक्षणीत्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥

अंतःकरण वाले सभी पुरुषों के हृदयों में भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव होते हैं, उन भावों की प्रेरणा से ही प्राणिमात्र व्यवहार कर रहे हैं। यह जगत भी भावना पर ही स्थित है

× हे आर्त्तिहर ! हे सुन्दरता के सागर ! हमने अपने पति पुत्रादिकों का मोह त्याग दिया है, त्यागियों के समान घर-द्वार छोड़कर एक मात्र तुम्हारी सेवा करने के लिये ही यहाँ आई है। तुम्हारी मनोहर और मन्दहँसी तथा तिरछी चितवन को देख, तीव्र काम से तप्त हमारे हृदय तप रहे हैं, सो हृदय-देव ! हमारे ऊपर आप प्रसन्न हूजिये और हमें अपनी दासताप्रदान कीजिये।

इसीलिये सबके सम्बन्ध में कहा गया है, 'तस्मात् भावो हि कारणम्'। मनीषियों ने सभी भावों को पाँच भावों में अन्तर्भुक्त कर दिया है। वे पाँच दास्य, सख्य, वात्सल्य, शांति और मधुर हैं। इन पाँचों में सभी भावों का सन्निवेश है। किसी से भी सम्बन्ध जोड़ना हो इन के ही अनुसार सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। सब की इच्छा होती है, हमारे ऊपर कोई एक बड़ा हो, जिसकी प्रेम भरी मीठी घुड़की सुनने को मिले और जिसकी यथासाध्य सेवा करें। एक मन-माफिक मित्र की चाह सभी के हृदय में उदित होती है, न मिले यह दूसरी बात है। प्यार करने को सभीका जी चाहता है। प्रेम से किसी कामुह चूमले, प्रेम भरी चपत लगावे और किसी से भोलीभाली प्रेम भरी क्रीड़ा करे यह इच्छा सबको होती है। कभी ऐसी भी इच्छा उठती है कि चुपचाप बैठ जायँ और अपने आप में ही मग्न रहूँ। अपने साथ किसी का जिस पर अपना सर्वस्व वार दें, मधुरातिमधुर सम्बन्ध हो, यह अन्तस्तल की पुकार है। पुरुषों का वह सम्बन्ध एक मात्र गुरु से ही हो सकता है और स्त्रियों का अपने प्राणनाथ पति से। विवाह उस मधुरातिमधुर सम्बन्ध को स्थापित करने की प्रथा है और मंत्रदीक्षा-संस्कार भी एक प्रकार से विवाह ही है। शिष्य गुरु के चरणों में सर्वस्व समर्पित करके उनसे मधुर सम्बन्ध स्थापित करता है। ये पाँचों भाव न्यूनाधिक अंश में तो रहते ही हैं, किन्तु एक की विशेषता होने पर और भाव दब जाते हैं, उसी में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। यदि ये भाव भगवान की ओर लगे तब तो उसे भक्ति अथवा परासक्ति कहते हैं और संसार की ओर लगे तो मोह या विषयासक्ति कहते हैं। जिनकी यह आसक्ति सजीव प्राणियों में न लगकर रुपये पैसे ईंट पत्थरों में लगती है, वे प्राणियों से प्रेम करना

भूल जाते हैं, उन निर्जीव पदार्थों में ही उनका मनलगा रहता है। किसी भी भाव से किसी भी पदार्थ में आसक्ति जरूर रहेगी आसक्ति के बिना प्राणी रह नहीं सकता।

इन सब भावों में दास्य भाव प्रधान है। चाहे सख्य हो, वात्सल्य हो, शान्ति अथवा मधुर हो, जब तक उसमें दास्य नहीं तब तक कुछ नहीं। दास्य एक काँच का पात्र है ये भाव जल हैं; जैसा रंग डाल कर काँच के बर्तन में भरोगे वैसा ही रंग उस पात्र का हो जायगा और तन्मय दीखने लगेगा। पात्र के बिना जल ठहर नहीं सकता। इसलिये वात्सल्य में भी दास्य है, शान्त में भी दास्य है, और मधुर में भी दास्य है। दास्य इन सभी भावों का आधार है। ये सभी भाव आधेय हैं; जो दास नहीं वह भावों का अधिकारी नहीं, उस अनधिकारी को विशुद्ध भाव प्राप्त ही नहीं हो सकते। भिन्न २ रंग के मोतियों को एक में गूँथने के लिये सूत्रकी आवश्यकता है, और मालाके भिन्न २ दानों में सूत्र समान रूप से व्याप्त रहता है, सूत्र के बिना माला का अस्तित्व ही नहीं। इसी प्रकार दासता के बिना भावों का स्थापित्व नहीं। दास्य ही सबका आधार है।

भक्तिमार्ग हो, ज्ञानमार्ग हो अथवा अन्य कोई मार्ग हो, जब तक नत होकर, प्रसन्न होकर, नम्रता, दीनता, दासता से युक्त होकर सद्गुरु की शरण न जाया जाय, तब तक कल्याण नहीं। स्त्रियों के गुरु उनके पति हैं, उनके ही शरण में जाने से सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं। पति को ही सर्वस्व माननेवाली सती-साध्वी स्त्री का दरजा परमयोगी से किसी प्रकार कम नहीं। आर्य ललनाये' एक को ही अपना तन, मन अन्तःकरण समर्पित करती थीं। कैसा भी हो, जिसे एक बार

आत्म-समर्पण कर दिया, उसमें अवगुण कहाँ ? फिर तो वह गुणों की खान है। यों गुण-अवगुण की विवेचना करते रहे तो संसार में सर्व-गुण-सम्पन्न ईश्वर के सिवाय कोई भी न होगा।

पूर्व जन्मों के संस्कारों से अथवा भगवत् कृपा से इस हाड़-मांस-युक्त पुरुष में यदि किसी स्त्री का पति भाव न हो, यदि कोई स्त्री नन्दनन्दन को ही अपने पति रूप से वरण कर चुकी है, तो उसके लिए पति की कोई जरूरत नहीं। इससे न धर्म का व्यतिक्रम होता है और न समाज के नियम ही भंग होते हैं।

यह कहने की तो जरूरत ही नहीं कि जिसका सम्बन्ध उन सर्वेश्वर से होगा, जिसने पतिरूप से उन पुरुषोत्तम का वरण किया होगा, उसे जाग्रत में क्या स्वप्न में भी कभी पौरुषीय इन्द्रिय सुख की इच्छा न होगी। इन्द्रिय-सुखों में पतन है, च्युति है, किन्तु अच्युत के साथ के सुख में पतन की संभावना नहीं; वे तो स्वयं ही आत्माराम और योगेश्वरेश्वर हैं। भाग्योदय से जिसे उन अच्युत की दासता प्राप्त हो गई वह तो त्रैलोक्यपूज्य है। किंतु ऐसी भाग्यशालिनी महिलायें लाखों क्या करोड़ों में एक होती हैं। मीरा ऐसी ही भाग्यशालिनी थी। उसने बार बार कहा है—‘मेरी प्रीति पुरवली मैं काई करूँ।’ उसे विश्वास था कि मेरे जन्म-जन्मान्तर में पति भी ये ही गिरधर गुपाल थे ‘मीरा कहै प्रभु गिरधर नागर जनम जनम की दासी रे।’ उस जन्म जन्मान्तर की दासी ने, सचमुच ब्रज-गोपिकाओं के प्रेम का सच्चा आदर्श उपस्थित कर दिया। दास्यभाव की पराकाष्ठा मीरा के पद-पद से पकट होती है।

सेवक अपने तन-मन को स्वामी की सेवा में समर्पित कर देता है। उसका नियम, धर्म; पाठ, पूजा, जप, तप, तीर्थ, व्रत

सभी अपने मालिक की मजदूरी बजाना है । स्वामी को सुख मिले, अपने किसी व्यवहार से स्वामी को संकोच न हो यही सेवक की सदा लालसा बनी रहती है । किस अंग में खुजला-हट है, इसे बिना बताये ही जैसे हाथ समझ लेता है और उस स्थान को खुजा देता है उसी तरह स्वामी के मनोभावों को समझ कर स्वतः ही सेवा में तत्पर रहना चाहिये । अपने शरीर से जो भी उपकार हो सके उसमें अपना परम सौभाग्य समझना चाहिये । यदि अपने शरीर के चाम के जूतों से स्वामी को सुख पहुँचे तो हँसते-हँसते अपने हाथ से खाल तक उतार देना चाहिए, यही सच्चे सेवक का कर्तव्य है । हम मंद भाग्यवालों को भला ऐसी शक्ति कहाँ ? जिन्हें वे हरि ही बुद्धियोग दें उन्हीं की रुचि स्वामी की सेवा में ऐसी हो सकती है । महाभाग्यवती मीरा को ऐसी दास्यता प्राप्त थी । जहर का प्याला आया । लाने वाले ने कह दिया, तुम्हारे स्वामी के चरणों का धोवन है । दूसरे तरफ से धीरे से किसी ने कहा, नहीं, जहर है जहर । मीरा मानी ही नहीं । भला, स्वामी का चरण-धोवन बड़े भाग्य से मिलता है । वह मतवाली पी गई और उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ, क्योंकि वह अपने गिरधर स्वामी की सच्ची दासी थी । उन्हीं की आज्ञा में चलने वाली थी, उनकी पूसन्नता के लिये सब कुछ करने को तैयार थी । उसने लाज छोड़कर उच्च स्वर से गायन किया ।

मैं गिरधर के घर जाऊँ ।

गिरधर म्हाँरो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ ।

रौण पड़े तब ही उठि जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ ॥

जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ ।

मेरी उणकी प्रीत पुराणी उन बिन पल न रहाऊँ ॥

जहाँ बिठावै तितही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊँ ॥

‘जहाँ बैठावे तितही बैठूँ, बेचै तो बिक जाऊँ’ यही दास्य-भाव की पराकाष्ठा है। अपने स्वामी को सर्वस्व सौंप कर उनकी ही सेवा में तत्पर रहना ही मनुष्यों का एकमात्र कर्तव्य है। इसीलिये मैं बार बार कहता हूँ कि हम जैसे साधारण मनुष्यों के लिये दास्यभाव ही सर्वश्रेष्ठ है। भगवान हमारे पुत्र हैं, नन्द-यशोदा और कौशल्या-दशरथ के समान ये भाव तो हम अल्पज्ञ जीवों में आने से रहे। बल, सुबल श्रीदामा की तरह हम उनके साथ मार-पीट और लड़ाई-झगड़ा कर सकें यह भाव बहुत ऊँचा है। शांत भाव एकांतवासी, वीतरागी, बासनाहीन मुनियों की सम्पत्ति है। मधुरभाव तो गोपिकाओं के लिये ही सुरक्षित है। पुरुषों के तो वह भाग्य में बदा ही नहीं। महाप्रभु चैतन्यदेव, हरिदास स्वामी, हित हरिवंश आदि जो इस भाव के उपासक हो गये हैं, वे अपवाद-स्वरूप हैं। इतने पर भी उन्होंने लहंगा, ओढ़नी, चूड़ी, नथ पहिन कर उसे व्यक्त नहीं किया। वह तो अनुभव की, एकांत की, गुप्त से गुप्त स्थान की बात है। उसके नाम पर आज जो हो रहा है सो तो भगवान का नाम ही है, भगवान किसी की अपने से निंदा न करावे। दासता में जितना सुख है, यह उपासना जितनी सर्वव्यापक है उतनी दूसरी नहीं। मीरा की भावना इस विषय में कितनी ऊँची है। उनकी अपने सच्चे स्वामी को रिझाने के लिए कैसी तन्मयता है। कैसी-कैसी आशाएँ वे बाँध रही हैं। वे यदि कुछ माँगती हैं तो यही कि ‘पुरुषभूषण देहि दास्यम्’ हे पुरुषोत्तम अपनी टहलनी बना लो। अच्छा टहलनी-दासी

बनोगी तो काम क्या करोगी ? और मजदूरी क्या लोगी ?
इस सम्बन्ध में वह अपने स्वामी के सामने गाती है—

२याम म्हाँने चाकर राखो जी, गिरिधारीलाल चाकर राखो जी ।
चाकर रहसूँ, बाग लगासूँ, नित उठ दरसन पासूँ ।
वृन्दावन बी कुंज गलिन में, गोविन्द का गुण गासूँ ॥ १ ॥
चाकरी मे दरशन पाऊँ, सुमिरन पाऊँ खरची ।
भाव भगत जागीरी पाऊँ, तीनों बातों सरसी ॥ २ ॥
मोर मुकुट पीताम्बर सोहै, गल बैजन्ती माला ।
वृन्दावन में धेनु चरावै, मोहन झरली वाला ॥ ३ ॥
ऊँचे ऊँचे महल बनाऊ, बिच बिच राखू बारी ।
सौवरिया के दरशन पाऊँ, पहिर कुसुमल सारी ॥ ४ ॥
जागी आया जोग करन कूँ, तप करने मन्यासी ।
हरी भजन को साधू आये, वृन्दावन के वासी ॥ ५ ॥
मीरा के प्रभु गहर गंभीरा, हृदै रहो जी धीरा ।
आधी रात प्रभु दरशन दीज्यो, प्रेम नदी के तीरा ॥ ६ ॥

चाकरी, किन्तु अपनी योग्यता तो बताओ, परिचय तो दो, आखिर दासी बनने का प्रयोजन क्या है । तुम्हारी रहनी कैसी है ? क्योंकि सेवक का अपराध स्वामी का समझा जाता है । सेवक का सभी प्रकार का उत्तरदायित्व स्वामी के ही ऊपर होता है, अतः स्वामी के लिए सेवक की नियुक्ति देख-भाल कर सावधानी से करनी चाहिए । बहुत से नाम के लिए भी झूठे सेवक बन जाते हैं और अपना मतलब साधकर चले जाते हैं । मीरा कहती है—‘न, नाथ ! मुझे ऐसी सेवा नहीं चाहिए, मैं तो सच्ची सेविका बनना चाहती हूँ ।’ इसीलिए उसने अपने स्वामी गिरिधर लाल जी के सामने प्रेमभरे कंठ से

आर्त होकर यह पद गाया।था और स्वयं को सेवा में नियुक्त करने की प्रार्थना की थी—

मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ ।
 झूठे धन्धों से मेरा फन्दा छुड़ाओ ॥१॥
 लूटे ही लेत विवेक का डेरा ।
 बुध्दिवल यद्यपि करूँ बहुतेरा ॥
 हाय हाय नहीं कछु बश मेरा ।
 मरत हूँ विवश प्रभु धाओ सवेरा ॥
 धर्म उपदेश नित प्रति सुनती हूँ ।
 मन कुचाल से भी डरती हूँ ॥
 सदा साधु सेवा करती हूँ ।
 सुमिरण ध्यान में चित धरती हूँ ॥
 मक्ति मारग दासी को दिखाओ ।
 मीरा को प्रभु साँची दासी बनाओ ॥

मोराकी सख्यासक्ति

दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा ।

यत्र द्रवत्यंतरंगः स स्नेह इति कथ्यते ॥

सख्य भाव में दास्य भी है, वात्सल्य भी है और अपना-पन तथा अधिकार भी है। जितने भी ये सम्बन्ध हैं, आसक्तियाँ हैं इनके पृथक् पृथक् भाव बिजली के काँच के समान हैं, इन सब में मुख्य वस्तु है बिजली का तार। यदि बिजली का तार का सम्बन्ध उन काँचों में है तब तो वे हरे, पीले, लाल, गुलाबी, छोटे, बड़े, टेढ़े सीधे सभी प्रकाशित हो जायेंगे, सभी जगमगाने लगेंगे, किन्तु यदि उनमें से उस तार का सम्बन्ध-विच्छेद करा दिया जाय तो वे सब प्रकाशहीन, निर्जीव, आभा-

* जिसके दर्शन से, स्पर्श से श्रवण से भाषण से अपने आप ही हृदय द्रवित होजाय, पिघल जाय, उसी को विद्वानों ने स्नेह बताया है।

शून्य और व्यर्थ हैं। इसी प्रकार 'प्रेम' एक वह तार है, जिसे किसी भी सम्बन्ध में, किसी भी भाव में व्यवहृत करो उसीसे उस भाव का प्रकाश है, यदि उन भावों को प्रेमहीन बना दिया जाय तो वे काठ के घोड़े के समान व्यर्थ हैं। काठके बने घोड़े को भी तो घोड़ा कहते हैं, किन्तु उस पर चढ़ कर कहीं जा थोड़े ही सकते हैं, वह घोड़े का काम थोड़े ही दे सकता है। सख्य भाव के मानी हैं, बराबरी का प्रेम। एक दूसरे की परस्पर में प्रतिष्ठा करते हैं। एक दूसरे का हित चाहते हैं। एक दूसरे पर पूरा निष्ठावर करते हैं। वे परस्पर में सखा, सुहृद, मित्र, प्रेमी, स्नेही या जो कुछ समझे, कहाते हैं। उनके दो नाम भी नहीं, दोनों सखा ही हैं दोनों सुहृदही हैं। उन दोनों में छोटा कौन है, बड़ा कौन है, इसका निर्णय कोई भी नहीं कर सकता। दोनों यदि बड़े हैं तो दोनों, छोटे हैं तो दोनों। सुदामाजी कृष्ण भगवान को बड़ा मानते थे, भगवान उन्हें अपना बड़ा मानते थे।

प्रेम वाजारू चीज नहीं है, वह तो हृदय की, एकान्त की गोपनीय वस्तु है, पकट अपने से भले ही होजाय। सूर्य हाथ से छिपता नहीं, किन्तु उसका प्रदर्शन नहीं किया जाता। रसिक रसखान ने प्रेम में सने प्रिया प्रियतम के प्रेम-भाव का बड़ा ही सुन्दर सजीव और सरस चित्र खींचा है। वह प्रेम-द्वितीया के चन्द्र के समान बढ़ रहा था। उसका स्वभाव ही है 'प्रतिक्षण वर्धमानम्'। बात तो थी एकान्त की, किन्तु ताड़ जाते हैं ताड़ने वाले। भला पीछे लगने वालों से कोई छिपा कहाँ तक सकता है। एक सखी ने छिपकर देख लिया; वह दूसरी से कह रही है—

एरी आज का ल्हि सब लोकलाज त्यागि दोऊ सीखे हैं सबैविध सनेह सरसाइबो
 यह रसखान दिन द्वै में बात फैलिजै है, कहाँ लौ सयानी चद हाथन छिपायबो ॥
 आज, हौ निहारयो वीर निपट कलिन्दी तीर दोउन को दोउन सो भूरिमुसकायबो
 दोऊ पर पैयाँ दोऊ लेत हैं बलैया उन्हें भूलगाइ गैया इन्हें गागर उठायबो ॥

यह सरस सख्य है। इसमें परस्पर में दोनों ही ओर से
 प्रेम का प्राबल्य है। एक दूसरे में तनिक भी अंतर नहीं, छोटे-
 बड़े का भाव नहीं।

वैसे सख्य अवस्था धन जाति की अपेक्षा नहीं रखता, वह तो
 परम स्वतंत्र है, किन्तु फिर भी सामान्यतया प्रेम समानता में
 होता है, यदि मैत्रीके पूर्व कुछ असमानता होती भी है, तो
 सखा-सम्बन्ध उसमें समानता कर देता है। संसार में सब
 कुछ मिलना संभव है, किन्तु सच्चा मित्र सहृदय सखा किसी
 भाग्यवान विरले मनुष्य को ही प्राप्त होता है 'भाग्येन तत्
 लभ्यते।'।

मीरा का सम्बन्ध मन मोहन से मधुरातिमधुर था। जब
 उसमें सभी प्रकार की आसक्तियों का समावेश है, तब फिर
 सखा तो उसका प्रधान भाव है। क्योंकि सखा के माने ही
 हैं निकटतम बन्धु। बन्धु उसे कहते हैं जो अपनी प्रेम-रज्जु
 में कसकर बाँध ले। जहाँ चाहे घुमावे, अपने मन को उसके
 मन में मिला देना ही सच्चा सौहार्द है। मीरा को भी उसके
 मित्र गिरधरलाल जी ने कस कर बाँध लिया था। इसी लिये
 वह अकपका कर जोरों से गा उठी—

प्रेमनी प्रेमनी प्रेमनी रे मन लागी कटारी प्रेमनी रे।

जल जमना माँ भरता गया ताँ हती गागर माथे देमनीरे।

काँचे ते ताँल ने हरि जीये बाँधे जेम खेँचे तेमनी रे ।

मीरा के प्रभु गिरधर साँवली सुरत सुभ एमनी रे ॥

मैत्री में वैसे संदेह के लिये स्थान तो नहीं किन्तु एक ध्यान रहता है, कि मैं स्वयं मित्रता के इतना योग्य नहीं, जितना ये मुझे अपनाये हुये हैं। दोनों ही ओर से यह भाव उठता है और असल में यही भाव प्रेम को बढ़ाता है। बढ़ाते बढ़ाते कहाँ ले जाता है, इसका पता आज तक किसी ने न पाया, न कोई पावेगा। प्रेम किसी दूसरे को चाहता नहीं 'प्रेम गली अति साँकरी तामें दो न समायै' और स्वयं प्रेम अंधा है, इसलिये प्रेम एक अनुभवगम्य आसव है, किसी ओर प्रकट हो, किसी भाव में प्रतीति हो वहीं निहाल कर देता है।

श्रीजी को शंका बनी रहती थी कि मनमोहन मुझे प्यार करते हैं या नहीं। एक दिन स्वयं एक ग्वारिये का वेष रखकर इसकी परिक्षा करने पधारी। दोनों मित्रों में बातें होने लगीं। मित्रों में तो वही रहस्यभरी बातें होती हैं, क्योंकि 'परोक्षप्रियाः देवाः।' चर्चा यही छिड़ी कि श्रीजी कैसी हैं। गोपरूप में श्रीजी ने अपने ही मुख से श्रीकी भाँति २ की शिकायतें की। बस, इस बात से ती मैत्री में अन्तर पड़ गया। जिसके लिये यह जीवन है, उनकी बुराई भला कैसे सह सकते हैं। श्यामसुन्दर ने मीठी भर्त्सना के साथ कहा—

सखा तुम बोलो न बात बिचारी ।

कहौ कौन सी बाल जगत में जैसी है भानु दुलारी ॥

यह तो तुम बेतुकी हाँक रहे हो। तुमसे मैं अभी थारई कुट्ट कर देता, किन्तु तुम मेरी प्यारी की सी सूरत के दीखते हो, इसी से मैंने सुनली है। तुम से मैं क्या कहूँ वह तो मेरे

हृदय में वास करती है।' बस फिर क्या था, जो चाहती था, वही मिला। दोनों एक हो गये—

प्रेम बिबस कछु सुरति रही ना तनुकी दशा विसारी।

लिये लगाय बेग उर प्यारी, तब हँसि रसिकबिहारी ॥

प्रेम में एक और भी बात यह रहती है कि अपना प्रेम सदा न्यून ही दीखता है। कैसे भी कोई समझावे, विश्वास दिलावे यह शंका मिटती नहीं। कभी २ तो शंका यह तक हो जाती है कि मेरे प्रेम के अभाव से ये कुछ रुठे हुए भी हैं, किन्तु यह स्मरण रहे मन का खिँचाव इस भाव से और भी अधिक बढ़ता है, वह प्रेमपिपासा-भीत इन भावों से और भी निकट तम आता जाता है। मीरा भी अपने मित्र गिरिधर लाल की शिकायत करती है—

जाबा दे री, जाबा दे, जोगी किसका मीत।

सदा उदासी मोरी सजनी, निपट अटपटी रीत ॥१॥

बोलत बचन मधुर अति प्यारे, जोरत नाहीं प्रीत ॥२॥

हूँ जाणूँ या पार निभैगी, छोड़ चला अध बीच ॥३॥

मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, प्रेम-पियासी-भीत ॥४॥

उस प्रेम पियासे मीन की बलिहारी है बलिहारी।

मीरा की कान्तासक्ति

विरचिताभयं वृष्णिधुर्यं ते चरण मीयुषा संसृटेभयात् ।

करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥

कान्ताभाव कितना मधुर है, कितना सुखद है। इस भाव के स्मरण-मात्र से ही अंग-अंग में रोम-रोम में स्फूर्ति आती है। जब इस विषय-वासनापूर्ण अनित्य जगत् में ही इसी भाव की आशा से लोग पागल बन रहे हैं, भाँति २ के दुःखों को उठाते हुए भी वैराग्य की ओर अप्रसर नहीं होते,

*हे कान्त ! हे वृष्णिवंशावतंस ! इस जन्ममरणरूप संसार में भयभीत होकर जो तुम्हारे चरणों की शरण में आते हैं, उन पर आप अपना वरद हस्त रखकर उन्हें संसार के सभी दुःखों से अभय कर देते हैं, जो कर-कमल काम-रूपी प्रेम को प्रदान करने वाले हैं, कमला को जिन करें ने कृपा पूर्वक पकड़ा है, उन्हीं कमलों से भी कोमल करें को आप हमारे सिर पर रख दें तो हमारा यह जीवन सफल हो जाय ।

तो जहाँ विषयों का लेश नहीं, दुःखों का स्पर्श नहीं, निरानन्द की गंध नहीं उन हरि में जिन्होंने यह सम्बन्ध स्थापित करा लिया है, वे आनन्द की सीमा को भी पारकर गये हैं, उनके श्रीचरणों में हमारे कोटि २ प्रणाम हैं।

गोपियों ने श्रीकृष्ण का भजन उनको अपना परमकान्त समझ कर ही किया था, ब्रह्म-भाव से नहीं। 'कृष्णं विदुः परंकान्तं न तु ब्रह्मतया मुने।' स्त्रियों के लिए अपने पति ही कान्त और परम उपासनीय हैं। उनकी ही उपासना ईश्वर-भाव से करने पर भी स्त्रियों का कल्याण होता है, उनके लिये पृथक् यज्ञ, पृथक् धर्म-कर्मों का विधान नहीं। पति के कर्मों में ही उनका भाग है, उनके साथ उनकी आज्ञा से ही वे धार्मिक कृत्य कर सकती हैं, स्वतन्त्र रूप से नहीं। 'भर्तुः शुश्रूषणं स्त्रीणां परो धर्मो ह्यमायया।' माया से रहित होकर-निष्कपट भाव से पति की सेवा करना ही स्त्रियों का परम धर्म है; क्योंकि स्त्रियों को पति के ही द्वारा इच्छित कामनाओं की, धर्म की और यहाँ तक कि मोक्ष की प्राप्ति होती है; पति ही परमेश्वर है।

जिनका पूर्व जन्मों के पुण्य से परमात्मा में ही पतिभाव हो गया हो, या जिनका संसारी पति वीच में ही छोड़ कर परलोकवासी हो गया हो उसके परमकान्त वे ही श्रीहरि हैं। व्रज की गोपिकायें इन्हीं में से थीं, वे श्रीकृष्ण को ही अपना परमकान्त मानती थीं, अपने पतियों को तो उनकी प्रति-छाया-चित्र-समझती थीं। उनका विश्वास था कि हमारा विवाह श्रीकृष्ण ही के साथ हुआ है, हमारे असली पति वे ही हैं।

इतनी गोपियों के साथ एक साथ विवाह कैसे हुआ, इसका सम्बन्ध कुछ रसिक भक्त यों जोड़ते हैं कि जब भगवान के साथ के गोप और बछड़ों को ब्रह्मा जी चुरा ले गये तब एक साल तक श्रीकृष्ण ही भिन्न-भिन्न रूपों में रहे। उस दिन संयोग की बात कि ब्रज के सभी ग्वाल-बाल वहाँ आ गये थे। गोपों का सम्बन्ध परस्पर में ही होता है। भगवान की माया विचित्र होती ही है, उस साल यह भ्रम गोपों में फैल गया कि अब अगले ५१७ वर्षों में विवाह की लग्न ही ठीक नहीं है, जिन्हें विवाह करना हो इसी साल करलो। बस, सभी ने अपने लड़कों-लड़कियों की शादी चटपट कर डाली। किसी गाँव की लड़की किसी भी गाँव के गोप के साथ विवाही जाय, गोप रूप में तो वे श्यामसुन्दर ही थे। सभी का विवाह उन चित-चोर मुरलीधर के साथ हो गया। साल भर बाद ब्रह्मा जी का मोह भंग हुआ, उन्होंने गोप ग्वालबाल और बछड़ों को छोड़ दिया। भगवान ने जो ग्वाल बाल और बछड़ों का रूप रखा था उसे अपने में समेट लिया और साल भर तक ब्रह्मलोक में रहने वाले उन गोपों को कुछ पता ही न चला। उन्होंने समझा हम अभी यहीं बैठे हैं। इस रहस्य को बलदेवजी ने समझ लिया। इसीलिये उन्होंने आश्चर्य किया था।

विवाह तो सब का नन्दनन्दन के ही साथ हुआ, क्योंकि भगवान ने भिन्न-रूपों से उन सब पर ब्रज-बालाओं को वरण किया था, अतः रूपकी दृष्टि से वे पति उनके कान्त थे। वस्तुतः परम कान्त तो ये मुरलीविहारी ही थे। तभी तो जब मुरली की ध्वनि सुन कर सभी की सभी एक साथ अपने परम कान्त से मिलने गईं, तो उन मायावी, छलिया, नटखट ने पहिले तो उन्हें भुलावा दिया—‘यहाँ क्यों चली आई’ ? चाँदनी

देखने आई हो ? बन की शोभा देखने आई हो ? या मुझे देखने आई हो ? किस लिये आई हो, अब देख लिया अच्छा लौट जाओ, पतियों की सेवा करो, यही धर्म है ।’

सखियाँ सब हाय हाय करने लगीं । कोई उनकी निष्ठुरता की निंदा करती हुई बोली ‘मैवविभोऽर्हति भवान्नगदितुं नृशंसम्’ मोहन! गजब मत ढाओ, ऐसी निष्ठुरता ठीक नहीं ।’ उनमें से एक बोली — ‘अच्छा तुम पति-सेवा की आज्ञा देते हो हमें मंजूर है; किन्तु हमारी एक बात का उत्तर दे दो । ‘भगवान ने पूछा—‘कौनसी बात का ?’ वह बोली—‘एक पण्डित थे वे परदेश जाने लगे । उनकी सती साध्वी पतिव्रता पत्नी रोने लगी कि मैं कैसे जीऊँगी । मेरे लिये कोई आधार होना चाहिये, पतिने अपने रूप की एक मूर्ति देकर कहा— ‘इसकी पूजा करना जब तक मैं न मिलूँ तब तक’ । पतिव्रता ने स्वीकार किया । उस चित्रपट की वह श्रद्धापूर्वक सेवा करने लगी । कालान्तर में पति देव आगये, किवाड़े खटखटाये, वहाँ पतिव्रता चित्र की पूजा कर रही थी, आवाज उसने पहिचान ली । पति की भी आज्ञा थी, ‘जब तक मैं न मिलूँ तब तक इसकी पूजा करना’ । अब बताइये वह उस चित्र की पूजा छोड़े या नहीं ? भगवान ने कहा—‘जब प्रत्यक्ष ही पति आगया तो चित्र की पूजा से क्या लाभ ?’

तब सखीने कहा—“तो छलियों के सरदार, तुमने विवाह तो हमारे साथ किया, फिर अपने उस प्रभाव को समेट कर हमें अपनी प्रतिझायाओं के सुपर्द कर आये । जब आधी रात्रि के सपथ तुमने मुरली में अपनी आवाज खटखटाई और हम उसे पहिचान कर दौड़ी आईं तब फिर तुम किम सुख से कहते हो कि ‘प्रतियात तनोगृहान्’ अपने २ घर को लौट जाओ ।’

सखी की दलील युक्तियुक्त थी; मनमोहन कुंजविहारी को कायल होना पड़ा और उनके साथ रास रचना पड़ा ।

मीराबाई की गिरधर लाल जी के प्रति बाल्यकाल से ही पतिरूप से आसक्ति थी । माता ने जब श्री भगवान की ओर संकेत करके कहा—‘बस, तेरे पति ये ही हैं, तभी से उसने उन सुघड़ साँवरे से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया ।’ वे मेरे पति हैं, मैं उनकी पत्नी हूँ, वे मेरे स्वामी हैं, मैं उनकी दासी हूँ इत्यादि सभी प्रकार के सम्बन्ध सभी प्रकार के स्नेह उसने उन वनवारी के ही साथ स्थापित किये । उन सब सम्बन्धों में कान्ता-भावसर्वश्रेष्ठ था । वही उसका सर्वोच्च प्रधान भाव था, अन्य सब प्रसंग-वश मन को समझाने के भाव थे । कुलवालों ने भाँति २ से समझाया, किन्तु उसके मन में एक भी न बैठा । अन्त में उसने कह दिया—

थाने काईं काईं समझाऊँ, म्हारा बाल्हा गिरधारी ।
 पूर्व जन्म की प्रीति हमारी, अब नहिं जात निवारो ॥१॥
 सुन्दर बदन जोवते सजनी, प्रीति भई छे भारी ।
 म्हारे घरे पधारो गिरघर, मङ्गल गावै नारी ॥२॥
 मोती चौक पुराऊँ बाल्हा, तन मन तो पर वारी ।
 म्हारो सगपण तोसूँ साँवलियाँ, जग सु नहीं विचारी ॥३॥
 मीरा कहे गोपिन को बाल्हो, हम सूँ भयो ब्रह्मचारी ।
 चरण सरण है दासी तुम्हारी, पलक न कीजै न्यारी ॥४॥

अनुराग के अनेक भेद हैं, उसमें असंख्य भाव हैं, किन्तु उनमें तीन प्रधान हैं । पूर्वाधुराग, मिलन और विरह । इन्हीं तीनों भावों से अपने प्रियतम की स्मृति में रात्रि दिन एक करना है । इनमें उत्तरोत्तर एक से एक बढ़कर है । विरह तो प्रेमरूपी

दूध की मोटी मलाई है, उसका वर्णन आगे होगा। यहाँ तो प्रियतम के पूर्वानुराग और मिलन की ही यत्किञ्चित् चर्चा की जायगी।

अभी प्रियतम से भेंट हुई नहीं। खाली नाम भर सुना है, उसकी कीर्ति ने ही एक मीठी गुदगुदी पैदा कर दी है, सनेह का स्रोत बहा दिया है। अब सोते-जागते उसी की स्मृति बनी रहती है। उसके नाम में इतना आकर्षण है। मीरा कहती है—

पिया तेरो नाम लुभाणी हो ।

नाम लेत तिरता सुखा, जैसे पाइए पाणी हो ।

सुकिरत कोई न कियो, बहु करम कुभाणी हो ।

गणिका कीर पढ़ावताँ, वैकुण्ठ वसाणी हो ॥

अरघ नाम कुञ्जर लियो, वाकी अवध घटानी हो ।

गरुण छाँड़ि हरि धाइया, पसु जूए मिटाणी हो ॥

अजामेल से ऊधरे, जम त्रास नसानी हो ।

पुत्र हेत पदवी दई, जग सारे जाणी हो ॥

नाम महातम गुरु दियो, परतीत पिछाणी हो ।

मीरा दासी रावली, अपणी कर जाणी हो ॥

यह है नाम की आसक्ति। प्रियतम का नाम रटती रही। नाम रटते-रटते अनुराग के भावों का उदय हुआ, इच्छा बलवती होने लगी। अब यह चाह होने लगी कि एक बार उस रूपराशि के दर्शन हो जाते, तो यह तन की तीव्र तपन शान्त हो जाती। उसके नाम में इतना आकर्षण है, उसे एक बार देख लें तो बस; फिर उस रूप के ही आनंद में सुख है। मीरा कहती है—

गोविन्द कबहुँ मिले पिया मेरा ।

चरण कमल हँसि करि देखों, राखौ नैनन नेरा ॥१॥

निरखण को मोहिं चाव घणोरो, कब देखौं सुख तेरा ॥२॥

ब्याकुल प्राण धरत नहिं धीरज, मिल तू मीत सवेरा ॥३॥

मीरां के प्रभु गिरधर नागर, ताप तपन बहुतेरा ॥४॥

सवेरा मिल जा और इस बहुतेरे ताप-तपन को मिटा जा ।

यह चाह है, पूर्वानुराग है। अब तक खाली दर्शन की ही अभि-
लाषा है। वे तो वांछा-कल्पतरु हैं, जो मनुष्य चाहता है, कभी
न कभी पूरा होता ही है। एक दिन वह दृष्टि पड़ ही तो गया।

अरे, यह क्या ! यह तो मामला ही उलट गया। सोचा था,
एक बार देखने पर तृप्ति हो जायगी, इस दृष्टि ने तो सीधा
कलेजे पर वार किया और उसने कसक ही पैदा नहीं कर दी,
एक बड़ा सा घाव भी कर दिया। अब यह तो और भी गड़-
बड़। इसकी दवा क्या हो ! कौन दवा करे ! अपनी वेदना
कहें भी तो किससे, लोग सुनेंगे, हँसेगे और हँसकर चुप हो
जायँगे। मेलना तो हमें ही पड़ेगा, कोई बाँट तो लेगा नहीं। फिर
भी हृदय की पीर बिना किसी से कहे रहा भी तो नहीं जाता।
प्रेमी के सामने पीर प्रकट करने से जी कुछ हलका सा हो जाता
है। इसीलिये उसने अपनी आली के सामने कहा—

आली ! सँवरो की दृष्टि मानो प्रेम की कटारी है।

लागत वेहाल भई, तन की सुधि बुधि गई।

तन मन ब्यापो प्रेम, मानो मतवारी है ॥ १ ॥

सखियाँ मिलि दुइ चारी, बावरी सी भई न्यारी

हौं तौ वा को नीके जानौं कुब्ज को विहारी है ॥ २ ॥

चंद को चकोर चाहै, दीपक पतंग दाहै।

जल बिना मीन जैसे, तैसे प्रीति प्यारी है ॥ ३ ॥

बिनती करों हे श्याम, लो मैं तुम्हारे नाम।

मीरप्रभु ऐसे जानो, दासी तुम्हारी है ॥ ४ ॥

उस अवलोकन ने चित्त में घाव कर दिया, अब स्वाँस-
स्वाँस पर वही मूरति, वही चितवन, वही उसकी मुरली की
माधुरीमयी तान याद आती है। पल-पल में उसकी स्मृति
बेचैन बना देती है। इसीलिये मीरा ने गाया—

या मोहन के रूप लुभानी ।

सुन्दर बदन कमल दल लोचन, बाँकी चितवन मंद मुसकानी ॥

जमना के नीरे तीरे धेनु चरावै, बंसी में गावै मीठी बानी ।

तन मन धन गिरधर पर वारूँ, चरण कमल लपटानी ॥

यह तो बड़ा अन्याय होगा, लोकरीति कुलरीति के विपरीत
पड़ेगा। बिना घरवालों की अनुमति के अपने आप तन, मन,
धन वारकर चरणों में लिपट जाना तो सदाचार के विरुद्ध
बढ़ता है। किन्तु वह प्रेम तो अलौकिक है, उसमें इन लौकिक
मर्यादाओं की परवाह नहीं। लौकिक मर्यादायें इन्द्रिय वास-
नाओं के निग्रह के लिये हैं। हमारी यह कसक तो हृदय की
है, विवशता की है। घरवाले बिगाड़ते हैं तो बिगड़ें। मीरा तो
निर्भय होकर कहती है—

श्री गिरधर आगे नाचूंगी ।

नाचि नाचि पिव रसिक रिभाऊं, प्रेमो जन को जाँचूंगी ॥

लोक लाज कुल की मरजादा, यामें एक न राखूंगी ॥

पिय के पलंग जा पौढ़ूंगी, मीरा हरि रंग राचूंगी ॥

कोई कुछ कहो मैं तो—

मैं तो साँवरे के रंग राची ।

साजि सिंगार बाँधि पग धुंधुरु लोक लाज तजि नाची ॥

उख विण सब जग खारो लागत और बात सब काची ॥

मीराँ श्री गिरधरन लाल सूँ भगति रसीली जाँची ॥

बात बड़ी बदमासी की है। सखियों ने समझाया—‘बाई ! यह बात अच्छी नहीं, लोक-ताज का भी ध्यान रखना चाहिये। दुनियाँ में भाँति २ के चवाव हो रहे हैं। बात कुछ छिपने वाली तो है नहीं।

अभी से तो ब्रोग कहते हैं कि इसने कुल-भर्यादा को छोड़ दिया, बिलकुल बिगड़ गई। सो अब भी कुछ बना-बिगड़ा नहीं है, इस पागलपन को छोड़ दो। इस पर उस प्रेम-दिवानी ने उत्तर दिया—“बहिन ! मेरे वश की बात थोड़े ही है। इन आँखों की आदत ही ऐसी पड़ गई है। उस रूपकी चाट इन्हें ऐसी लग गई है कि मना करने पर भी नहीं मानते। इसका क्या उपाय हो—

आली रे मेरे नैनन बान पड़ी।

चित्त चढ़ी मेरे माधुरी मूरति, उर बिच आन पड़ी।

कैसे प्राण-पिया बिन राखों, जीवन मूल जड़ी ॥

मीरा गिरधर हाथ बिकानी, लोग कहे बगड़ी ॥

लोगों की तरफ देखूँ या मन की तरफ। जान बूझकर आग में कौन कूदता है। क्या पतंगे को पता नहीं कि लौ में जायगा तो जलकर भस्म हो जायगा। किन्तु वह जाने को विवश है। बिना ज्योति के आलिंगन किए उसके तनकी तपन बुझती ही नहीं, उसके मनकी हवस मिटती ही नहीं। सो आली ! मुझे तो “हठेन केनापि वयं शठेन दासीकृता गोप वधू विटेन”

इसी तरह के अनेक भावों में दिन बीते। रात्रि दिन एक किये। पत्र लिखने का विचार किया, वह भी न लिखा गया। प्रीतम की स्मृति में रात्रि-दिन एक कर दिया। कोई समय खाली नहीं। जिस समय उनकी प्रतीक्षा न हो, एक दिन वे

कृपा करके पधारे भी; पूर्वानुराग मिलन-में भी परिणत हुआ ।
मिलने का जो समय उसी में पधारे; सो मीरा अपनी सखी
से कह रही है—

सोवत ही पलका में मैं तो पलकलगी पल में पिउ आये ॥
मैं जु उठी प्रभु आदर देन कूँ, जाग परी पिव, ढूँढ़ न पाये ।
और सखी पिउ सुत गमाये, मैं जु सखी पिउ जागि गमाये ॥
आज की बात कहा कहूँ सजनी, सपना में हरि लेत बुलाये ।
वस्तु एक जब प्रेम की पकरी, आज भये सखि मनके भाये ॥
वो माहरो सुने अरु गुनि है, बाजे अधिक बजाये ।
मीरा कहे सत्त कर मानों, भक्ति मुक्ति फल पाये ॥

यह है मिलनका सुख । जिसकी आशा लगी थी, जिसके पीछे इतनी बदनामी सुनी थी, वे प्राण प्यारे पधारे, उन्होंने अपनाया और भक्ति-मुक्ति से भी बढ़कर सुख दिया ।

मीरा का अपने गिरिधर लाल में यथार्थ पतिभाव था ।
वैसे तो वे सम्पूर्ण जगत के पति हैं, किन्तु पतिभाव से ही भजन करना वैसे ही निष्ठा बनाये रहना यह साधन की चरमातिचरम सीमा है । कहना यों चाहिए कि मनुष्य की शक्ति से परे की बात है । इस भाव को पुरुष कवियों ने भी व्यक्त किया है, क्योंकि वे भी प्रकृति में ही अपने को मानते हैं, पुरुष तो वे ही एक आनन्दकंद प्रेम-राशि नन्दनन्दन ही हैं, किन्तु फिर भी उनके भाव में उतनी स्वाभाविकता नहीं । वे भाव मानों गोपियों से उधार लिए गए हैं और उधार की चीज तो जैसी होती है सभी जानते हैं । किन्तु मीरा के भाव में बनावट की गंध नहीं उसके भावों में स्वाभाविकता सरसता सरलता सभी है, पढ़ते समय ही प्रतीत होता है कि

एक पतिव्रता पत्नी निज पतिदेव को ही सर्वस्व समझने वाले अपने हृदय की आहों को उगल रही है। उसकी आहें सच्ची हैं। यथार्थ में उसने गिरिधर गुपाल को कान्त-रूप में वरण किया था, वह उन बाँकेबिहारी की सचमुच में पत्नी थी। उसकी लालसाएँ अपने प्राणपति के साथ एकीभूत हो गई थी। वह अपने प्राण-प्यारे को स्मरण करके बार-बार गाती थी। एक सच्ची पत्नी की अपने हृदयधन से जो आशा होती है, उस आशा को लगाये हुए वह आँसू बहाती हुई निरंतर गाया करती थी और शून्य आकाश में अपने प्रियपति को संदेश सुनाया करती थी—

पिया बिन रह्यो न जाय ।

तन मन मेरों पिया पर वारूँ, बार बार वलि जाइ ॥ १ ॥

निस-दिन जोऊँ बाट पिया की, कब कब मिलोगे आइ ॥ २ ॥

मीरा के प्रभु आस तुम्हारी, लीज्यौ कण्ठ लगाइ ॥ ३ ॥

मीरा की वात्सल्यासक्ति

श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारत मन्ये भजन्तु भवभीताः ।

अहमिह नंदं वन्दे यस्यालिनन्दे परब्रह्म ॥

‘हमारे प्यारे वत्स वे ही वांसुरी वारे विहारी हैं !’ ऐसी भावना कुछ करने से नहीं होती। यह तो अनंत जन्मों के परम पुण्यों के भी फलों का फल है। यों कहिये कि मनुष्य अपने जप, योग, तप और कर्म आदि साधनों से इस सौभाग्य को प्राप्त नहीं कर सकते, जब वे ही प्यारे कृपा करें, उनकी पुत्र बनने की इच्छा हो, वे ही किसी की गोदी में खेलने के लिए लालायित हों तभी ऐसा सुखकर, सुमधुर, अनुपमेय, अनिर्वचनीय सुख प्राप्त हो सकता है, तभी तो परम आश्चर्य के साथ राजर्षि परीक्षित भगवान् शुक्रदेव जी से पूछते हैं—

कोई श्रुतियों की, कोई स्मृतियों की ओर कोई महाभारत की सेवा पूजा करे, किन्तु मैं तो उन नन्दबाबा को ही बार बार नमस्कार करता हूँ, जिनके आँगन में साक्षात् परब्रह्म परमात्मा खेलते हैं।

‘नन्दः किम करोत् ब्रह्मन्’

हे ब्रह्मन् ! नन्द और यशोदा ने ऐसे कौन से सुकर्म किये थे, जिनके कारण हरि भगवान उनके यहाँ पुत्र रूप में प्रकट हुए !’ सचमुच यह प्रेम की पराकाष्ठा है। सभी तो दशरथ कौशिल्या और नन्द-यशोदा तथा देवकी-वसुदेव नहीं हो सकते। न हों तो भी उस नन्द के छोहरा के प्रति वात्सल्य-प्रेम तो सभी का ही होता है। परम भक्त रसखान जी की एक भोली-भाली सखी दही मथने की रई लेने नन्द बाबा के घर चली गई। वहाँ उसने जो देखा उसे देखकर वह भूली-सी, भटकी-सी सिड़ी-पगली-सी होकर लौटी और आकर धीरे से दूसरी सखी से कहने लगी।

आज गई हुति भोरहि हौं रसखानि रई कहँ नद के भौनहिं ॥
वाको जियो जुग लाख करोर जसोमति को सुख जात कह्यो नहिं ॥
तेल लगाय लगाय के अञ्जन भौह बनाय बनाय डिठोनहि ॥
डार हमेल निहारत आनन वारति ज्यो चुचकारति छौनहिं ॥

वहाँ वह सखी उस नन्हीं-सी साँवली सूरत पर लट्ठू हो गई थी। उस सौन्दर्य-राशि पर उसने सर्वस्व वार दिया था। अपने सुख को किसी पर बिना प्रकट किये चैन ही नहीं पड़ता। जब तक किसी से कह न दें, हृदय में उथल पुथल होती रहती है। उसने भी एक सखी से कहना आरंभ किया—‘देख बहिन आज मेरी रई टूट गई थी, इससे दही बिलोने के लिये नन्द के घर बहुत ही तड़के गई थी। वहाँ पर मैंने……बस, इतना कह कर सखी रुक गई। उसे ध्यान आया कि दूसरे के लड़के के सौन्दर्य की तारीफ करने से कहीं उसे नजर न लग जाय। स्त्रियों का टोटका होता है। पर बिना कहे रह भी तो नहीं

सकती। इसलिये कहने के पहिले आशीर्वाद दिया, उसका वह मुनमुना बच्चा लाख करोड़ वर्ष तक जीता रहे, और तब उसने वर्णन किया। इस 'वाको जियो जुग लाख करोर' में कितना वात्सल्य है और बालक के सुकुमार-स्वरूप का कैसा सजीव चित्र है !

मीराबाई का तो श्यामसुन्दर से एक ही प्रधान सम्बन्ध था,—तुम मेरे सर्वस्व हो, मैं तुम्हारी चेरी, दासी और सहचरी हूँ। फिर भी वात्सल्य भी तो उन्हीं से करना था। जब उनके बिना दूसरा कोई है ही नहीं। 'त्वमेव सर्वं मम देव।' तब फिर वात्सल्य-रसको पूवाहित करने कहाँ जाँय। वात्सल्य की हुड़क़ों भी तो उन्हीं के द्वारा बुझानी होगी। इसीलिये उसने बालक मोहन का वर्णन किया है, जब वे अपने नन्हें से हाथों में लकुटि लेकर गौओं को चराने जाते थे,। बस उन्हें देखते ही मीरा गा उठी—

वसो मोरे नैनन में नंदलाल ।

मोहनी मूरति साँवरी सूरत, नैना वने बिसाल ।

अधर सुधा रस मुरली वाजत, उर वैजंती माल ॥

छुद्र घाटका कटि तट सोभित, नूपुर सबद रसाल ।

मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भगत बछल गोपाल ।

यह नन्हें से गोपाल का वर्णन है। इसमें छुद्र घंटिका और नूपुर शब्द बताकर उस बहुत ही लाड़िले बालक का वर्णन है, जो गौओं के चराने योग्य तो अभी नहीं, किन्तु हठ-पूर्वक मुरली लेकर धीरे २ बछड़ों के पीछे नंगा ही चला जाता है। वात्सल्यभाव में ऐश्वर्य का एक दम अभाव होजाता है। ऐश्वर्य-ज्ञान रहे तो फिर वात्सल्य हो ही नहीं सकता। यशोदा कौशिल्या आदि माताओं ने जब अपने पुत्रों का ऐश्वर्यमय परू

देखा तभी वे डर गईं। किन्तु उन मायावी की माया से तत्क्षण वे उसे भूल गईं और फिर उसी प्रकार उन्हें अपना पुत्र मानने लगीं। १४ वर्ष वनवास के बाद रावण को मारकर श्री राघवजी जब अवधपुरी में लौटे तो माता ने बालक की भोली-भाली सूरत देखकर पूछा—‘बेटा, इतने कोमल करों से तूने इतने बड़े २ राक्षसों को कैसे मारा होगा, ये राक्षसों के युद्ध की बातें तो मुझे झूठी ही मालूम पड़ती हैं।’ माता को क्या पता कि अनंत कोटि ब्रह्माण्डों को क्षिण भर में मिटाना और बनाना इनके बाँये हाथ का खेल है।

कालिनाग को नाथा है, यह सुनकर यशोदा जी दौड़ी गईं और कितनी करुणा के साथ कहती हैं—

माता दूसरों से प्रार्थना करती हैं कि मेरे बालक को इस काली नाग से बचा लो। वात्सल्य का कैसा सजीव चित्र है।

मीरा भी जब प्यार में आती है, जब उन भोले-भाले श्याम की बड़ी २ भोली २ आखों को देखती है, तब उससे भी रहा नहीं जाता। वह भी इसी प्रकार प्रश्न पूछ बैठती है—

कमल दल लोचना तैने कैसे नाथ्यो भुजंग।

पैसि पताल काली नाग नाथ्यो फण फण निर्त करंत ॥

कूद परथौ न डरथौ जल माहीं और काहू नहिं संक।

मीरा के प्रभू गिरधर नागर, श्री वृंदावन चंद।

मीरा की आत्मनिवेदनासक्ति

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसम् ।
संत्यज्य सर्वं विषयास्तव पादमूलम् ॥
भक्ता भजस्व दुरवग्रह मात्यजास्मान् ।
देवो यथादि पुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥*

आत्म-समर्पण को मानी हैं, अपनापन न रहना । अपनी सभी क्रियायें, सभी विचार, सभी वस्तुएँ, सभी सम्बन्ध सभी सुख-दुःख अपने प्यारे को समर्पित कर देना । मेरा

*गोपियाँ भगवान से कह रही हैं—‘नाथ ! ऐसे कठिन वचन मत बोलो । हम यों सभी प्रकार के सम्बन्ध, सभी विषयों को छोड़कर तुम्हारे चरणों की शरण में आई हैं । हमने सर्वात्म-भाव से अपने आपको आपके चरणों में समर्पित कर दिया है । हम आपको निरन्तर भजने वाली हैं, हमारी एक मात्र आसक्ति आपमें ही है । हे हठीले ! हमें त्यागो मत । जैसे भगवान अपनी शरण में आये दुये प्रभु को अपना लेते हैं, वैसे हमें अपना लो ।

कुछ भी नहीं, सब तेरा है। मैं कुछ भी नहीं, बस, 'तुम्हारा हूँ'। स्वामी की साँस में साँस मिलाकर साँस लेना। उनके संकेत पर नाचना। उनके ही लिये कर्म करना। हम दुःखी क्यों होते हैं? क्या किन्हीं पदार्थों के आने से दुःख होता है? या किसी नई चीज के मिलने से? सुख भी किसी के पैदा होने पर या नष्ट होने पर? ध्यानपूर्वक देखा जाय तो वस्तुयें सुख का हेतु हैं ही नहीं। रोज अनेक बँकों के दिवाले निकलते हैं, उनके कारण न हमें हर्ष न शोक। किन्तु जिनमें हम अपनापन कर लेते हैं, उन्हीं के नष्ट होने पर या अपने पास आने पर दुःख या सुख होता है। अतः सुख-दुःख का हेतु 'अपनापन' हुआ। इन अनित्य क्षण-भंगुर, परिवर्तनशील पदार्थों में 'अपनापन' करोगे तो सुख-दुःख-रूपी दुःखदायी चक्र से कभी न छूट सकोगे। यदि तुम अपने को ऐसे के पाद-पद्मों में समर्पित कर दोगे, जो न कभी मरता है न जीता है, न जिसमें परिवर्तन होता है और न जो घटता-बढ़ता है, तो तुम सदा एक रस होगे सुखी होगे, निरामय बनोगे। इसी का नाम आत्म-समर्पण है।

मीरा ने यही किया था। उससे कहा गया, ये तुम्हारे पति हैं, ये राजाओं के भी महाराजा तुम्हारे ससुर हैं। ये तुम्हारे पिताश्री हैं, ये पितामह हैं तब उसने निर्भय होकर कह दिया था—

‘मेरे तो गिरिधर गुपाल दूसरा न कोई’

दूसरा होता ही कहाँ? वहाँ तो रोम-रोम में काला रम गया। ‘प्रीतम छवि नैननि वसी पर छवि कहाँ समाय।’ इस-लिये उसने अपना सब कर्म गिरिधर लाल के समर्पित कर

दिया। उसे अपने मन से पूजा भी नहीं करनी होती। वह करावें तो कर दी, न करावें तो उनकी मर्जी। अपने ऊपर पाप-पुण्य तो अब लगने का ही नहीं। 'तत् त्वमैव कृतं सर्वं त्वमैव फल मुक् भवेत्' तुमने ही सब किया है। यदि करने से दुःख-सुख भोगना ही पड़ता हो, तो तुम भोगो हमसे क्या मतलब ?

सास ने कहा यह पूजो वह पूजो। इसकी मनौती मानो, उसे प्रसन्न करो, मीरा ने साफ कह दिया।

ना म्हें पूजा गौरज्या जी ना पूजा अनदेव ।

म्हें पूजा रण छोड़ जी सासु ये कोई जाणोमेव ॥

इस भेद को जान ही क्या सकता है। आत्म-समर्पण कोई ढोल बजाकर सब को दिखा कर थोड़े ही किया जाता है। वह तो हृदय का सम्बन्ध है, अंतःकरण का व्यापार है। जिसे अपने आपको निवेदन कर दिया बस, फिर सदा के लिये उसी के बन गये। बाजार का बर्तन तो है नहीं कि पसंद न आया तो बदल लाये। यहाँ तो एक दाम है। एक बार जो कर दिया सो कर दिया, होना था सो हो गया, बस अब तो उसके घर में रहना ही होगा, उसके संकेत पर नम्रचना ही होगा। अपनेपन के बिना कोई काम होता ही नहीं, जब अपनेपन को उसके सुपर्द कर चुके तो उसे छोड़कर कहीं जा भी कैसे सकते हैं। हाँ यदि वही बेचना चाहें, किसी के साथ करना चाहें तो कर दें। किन्तु इससे क्या आत्म-निवेदन में अन्तर पड़ेगा। रहना तो उसी का होकर है। इसी-लिये आत्म-निवेदन करके मीरा ने गाया—

मै गिरधर के घर जाऊँ ।

गिरधर म्हाँरो साँचो प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ ।

रैण पड़े तबहीं उठि जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ ॥

जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ ।

मेरी उठाकी प्रीत पुराणी, उनविन पल न रहाऊँ ॥

जहाँ बैठावै नित ही बैठूँ, वेंचै तो बिक जाऊँ ।

मीरा के पभु गिरिधर नागर बार बार बलि जाऊँ ॥

मीरा की तन्मयतासक्ति ।

इत्युन्मत्त वचो गोप्यः कृष्णान्वेषण कातराः ।

लीला भगवतस्तास्ता ह्यनुत्तकुस्तदात्मिकाः ॥*

तन्मयता ज्ञान से भी प्राप्त होती है और प्रेम से भी । ज्ञान की तन्मयता में उसे अपने में ही मिलाकर अनुभव करना होता है और प्रेम की तल्लीनता में अपने को उसमें मिला देना है । बात तो दोनों एक ही है, किन्तु इसमें निष्ठा का अंतर है । ज्ञान की ओर अपने सिवाय और कुछ नहीं और प्रेम की ओर उसके सिवाय कुछ नहीं । गोपियों की तन्मयता इसी प्रकार की थी । वे चराचर में श्रीकृष्ण को ही अनुभव करती थीं, चेतन हो, अचेतन हो, सभी से उन्होंने श्रीकृष्ण का पता पूछा । ज्ञान की और प्रेमकी तन्मयता में एक बड़ा भारी अंतर और है ।

*श्री कृष्णान्वेषण में कातर हुई वे गोपिकार्ये, उन्मत्तों के समान प्रलाप करती हुई, श्रीकृष्ण के रूप में ही तन्मय होकर उनकी ही लीलाओं को करने लगीं ।

ज्ञान-मार्गमें जहाँ एकत्व का अनुभव हुआ वहाँ फिर कभी द्वैत की गंध ही नहीं। जो मिला सो मिल गया। ऐसी दशा प्रेम में भी होती है, एक बार तो अपने आपे का, अपनेपन का सर्वतोभावेन नाश हो जाता है। जैसे रासलीला में अन्तर्धान होने पर सभी गोपिकायें अपने को श्रीकृष्ण ही अनुभव करने लगीं—कोई पूतना बध करती, कोई गौएँ चराने का अनुभव करतीं। यह सारांश कि उस समय उन्हें बिलकुल अनुभव होने लगा कि मैं नंदनंदन हूँ। किन्तु कुछ क्षणों के पश्चात् उनका यह भाव जाता रहा और वे आम, जामुन, कटहल, लता, बन, निकुंज, यमुना जी और फूलों से अपने प्यारे का पता पूछने लगीं। प्रेम में कभी कभी तो कुछ क्षण के लिये अपनापन नहीं रहता, किन्तु उममें छिपा हुआ स्थायी सूक्ष्मभाव यह सदा बना रहता है कि 'मैं सेवक हूँ, श्यामसुन्दर मेरे स्वामी'। इन सब रूपों में मेरे श्यामसुन्दर ही दीख रहे हैं, अतः मैं सभी का दास हूँ, सेवक हूँ। 'मैं सेवक सचराचर रूप राशि भगवन्त।'।

सती, साध्वी पत्नी का शरीर यद्यपि पति से पृथक् सा दिखाई पड़ता है किन्तु क्या वास्तव में उसका शरीर अपने प्राणनाथ पति से भिन्न है; नहीं वह एक ही है। पति के आवे अंग से ये सब काम होते हैं, इसीलिये शास्त्रों में सती धर्म-पत्नी को 'अर्द्धाङ्गिनी' कहा है। सती को किसी क्षण यह भान नहीं होता कि ये मेरे नहीं हैं, मैं इनकी नहीं हूँ। इसी भाव को तल्लीनता या तन्मयता कहते हैं। मन, वाणी, कर्म को उन्हीं में लीन कर देना ही तन्मयता है। मीरा के प्रत्येक पद में वह तन्मयता दीखती है। श्यामसुन्दर को रिझाने के लिये ही उसकी सम्पूर्ण चेष्टायें हैं। वह कहती है—

राम हमारे हम हैं राम के, हरि बिन कलु न सुहावे ।

पक्का रंग जब वस्त्र के ऊपर चढ़ जाता है, तो रंग और वस्त्र तन्मय हो जाते हैं । उनकी सत्ता पृथक्-पृथक् प्रतीत होने पर भी वे एक ही हैं, एक दूसरे को पल भर के लिये नहीं छोड़ सकता । जहाँ तक बीच में तनिक भी पर्दा है, वहाँ मिलन कैसा ? वह तन्मयता हो ही नहीं सकती । सब कुछ समर्पण करके अपने अस्तित्व को उसी में लीन कर देने से ही तल्लीनता प्राप्त होती है । मीरा कहती है—

मैं गिरधर के रंग राती सैया, मैं गिरधर के रंग राती ॥

पञ्च रङ्ग चोला पहिर सखी मैं, भिरमिट खेलन जाती ।

ओहि भिरमिट माँ मिल्यो साँवरो, खोल मिली तन गाती ॥

जिनका पिया परदेश बसत है, लिख लिख मेजें पाती ।

मेरा पिया मेरे द्वीय बसत है, न कहूँ आती न जाती ॥

चंदा जायगा सुरिज जायगा, जायगी धरख अकासी ।

पवन प्राणी दोनु ही जायंगे, अटल रहे अविनासी ॥

सुरत निरत दिवला संजोले, मनसा की करले बाती ।

प्रेम हटी का तेल, मंगाले, जग रखा दिन राती ॥

सत गुर मिलिया संसा भाग्या, सैन बताई साँची ।

ना घर तेरा ना घर मेरा, गावै मीरा दासी ॥

भुरमुट खेलने गई थी, वहाँ मुझे साँवला मिल गया ।

शरीर पर जो गाती लिपटी थी, उसे उतार कर उनसे मिल गई । अर्थात् शरीर जन्य अहंक्रुति को फेंक कर अपने को उन्हीं में मिला दिया, एकाकार हो गई । यही है प्रेमजन्य तन्मयता ।

उसमें सब सुख सब इच्छाएँ, प्यारे के ही ऊपर निर्भर हैं ।

ऐसा मिलन होने पर फिर विछोह का तो काम ही क्या ? जब सदा मिले ही हैं, तो किसको पत्र लिखूँ, किसे संदेश भेजूँ ।

मीरा अपनी सब इच्छाओं पर विजय पाकर अपने स्वामी से तन्मयता प्राप्त करने के लिये तड़फड़ाती रहती है और बार बार आँसू बहाती हुई गाती है—

मैं गरधर के घर जाऊँ ।

गिरधर म्हाँरो साँचों प्रीतम, देखत रूप लुभाऊँ ।

रैश पड़े तब हो उठि जाऊँ, भोर भये उठि आऊँ ॥

जो पहिरावै सोई पहिरूँ, जो दे सोई खाऊँ ।

मेरी उणको पीति पुराणी, उन बिन पल न रहाऊँ ;।

जहाँ बैठावे तितही बैठूँ, बेचैतो बिक जाऊँ ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, बार बार बलि जाऊँ ॥

मोरा की परम विरहासक्ति ।

यो ब्रह्म रुद्र शुक्र नारद भीष्म मुख्यै—

रालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य ।

सद्यो वशीकरणपूर्णं मनन्तं शक्तिं—

ते राधिका चरणरेणुमनुस्मरामि ॥●

यदि एक वाक्य में विरह की व्याख्या करनी हो तो यही कहा जायगा कि “नित्य संयोग का ही नाम विरह है।” शरीरके संयोगमें तो पृथक् होने का भय है और संयोग वियोग का जोड़ा है। जो मिला है वह बिछुड़ेगा और जो बिछड़ा है, वह मिलेगा, इसमें कोई अंतर नहीं। यह अवश्यम्भावी है, किन्तु जो

जिन परम-पुरुष प्रभु के दर्शन को ध्यान द्वारा ब्रह्मा, शिव, शुक्रदेव, नारद, भीष्म प्रभृति सहसा नहीं कर सकते, उन्हीं प्रभु को शीघ्र ही वश में करने वाली पूर्ण अनन्त शक्ति स्वरूपिणी राधाजी की चरण-धूलि को मैं अद्वा-भक्ति सहित प्रणाम करता हूँ ।

मन से मिला है, उसके साथ वियोग हो ही नहीं सकता ।
तभी तो मीरा ने कहा है--

औरो के पिय परदेस बसत हैं, लिख लिख भेजे पाती ।

मेरा पिया मेरे हियरे बसत है, गूँज करूँ दिन राती ॥

असली बात यही है, प्रियतम के साथ गूँज करना अर्थात् रहस्य भरी चेष्टायें करते रहने का नाम ही विरह है । शरीर का सम्बन्ध नश्वर और अस्थायी है, मन का सम्बन्ध ही सम्बन्ध है । विरहिणी मन से सदा अपने प्रियतम का ही चिन्तन करती रहती है । विरह में नित्य संयोग है, वहाँ वियोग का नाम तक नहीं । वियोग एक ऐसी मादक लुभावनी चीज है, जिसे न छोड़ते ही बनता है, न स्वेच्छा से ग्रहण ही करने की इच्छा होती है । उसे सुख भी नहीं कह सकते और दुःख कहें तो कैसे कहें, क्योंकि उसमें प्रियतम की स्मृति सदा बनी रहती है, तभी तो कबीरदास जी ने कहा है—

विरहा विरहा मत कहो, विरही है सुलतान ।

जिहि घट विरह न सचरै, सो घट जान मसान ।

सचमुच विरह में एक प्रकार का मीठा २ सुख न हो, तो, संसार में कुटुम्ब, परिवार, धन, वैभव भोग-सामिग्रियों को त्वागकर विरही क्यों व्यर्थ में आँसू बहाते रहते ? जिसे हम संसारी लोग परम सुख की वस्तुएँ समझते हैं, विरही उनकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखता, यही नहीं उसे ये सब सामिग्रियाँ विषवत् प्रतीत होती हैं । इससे इतना तो स्वतः ही सिद्ध है कि विरही का आनन्द कम से कम इन संसारी सुखों से तो सर्वश्रेष्ठ है ही । सर्वगुण सम्पन्न युवा पुत्र अपने सामने मर जाता है, धीरे-धीरे उसका शोक भी दूर हो जाता है और

मनुष्य पुत्र-वधू के रहते भी दूसरा विवाह करके संसारी सुखों में सब भूल जाता है। बहुत से भूलते नहीं, सोच में ही पड़े रहते हैं, उन्हें उस सोच में पड़े रहने में ही सुख प्रतीत होता है। सारांश यही है कि विरह भी एक प्रकार का अद्भुत सुख है और उसका अनुभव विरही के सिवाय दूसरा कोई कर नहीं सकता। विरह प्रेम की अंतिम अवस्था है। प्रेम का पर्यवसान विरह में ही होता है।

साहित्यज्ञों ने तथा रागानुगामी वैष्णवों ने विरह की बड़ी विशद व्याख्यायें की हैं, भेद, प्रभेद और अनुभेदों को बताकर इस विषय पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। यहाँ उनके उल्लेख के लिये न तो स्थान ही है, न वह अपना उद्देश ही है, इस स्थान पर तो हम इतना ही बताना चाहते हैं, कि वाई मीरा के जीवन में इस प्रेम की अंतिम अवस्था की पूर्ण रीति से अनुभूति हुई। मीरा का सम्पूर्ण जीवन विरह-प्रधान रहा। अपने प्रियतम गिरिधर लालजी के साथ उसका नित्य ही संयोग रहा। वह उनके साथ हँसती, खेलती-किलोलें करती, मतलब उसके लिये गिरधर लाल को छोड़कर दूसरा कोई संसार में था ही नहीं। जब तक उनसे शरीर से संयोग रहता, तब तक तो उनके साथ आनंद विहार और स्मरण करती। जब मनसे मेल होता तो वह विरहिणी बन जाती। उसका मन दूसरी बातें सोच नहीं सकता था। विरहिणी के जितने लक्षण शास्त्रों में बताये हैं, वे सभी उसमें अभिव्यक्त हुए थे। अत्यंत ही संक्षेप में उनके उदाहरण, सुन लीजिये।

विरह के आरंभ की दश दशायें बताई गई हैं। वे हैं—
चिन्ता, जागरण, उद्वेग, क्लेशता, मलिनता, प्लाप, उन्माद,

व्याधि, मोह और मृत्यु । मीरा बाई के जीवन में ये सब दशायेँ पूर्णतया प्राप्त होती हैं । उदाहरण के लिये हम उनके कुछ पद वहाँ नीचे उद्धृत करते हैं—

विरह की पहली दशा है चिन्ता । चित्त में वही अपना चित चोर चढ़ा रहै । उनके बिना एक पल भी अच्छा न लगे । कहाँ का खाना, कैसा पीना, बस प्रियतम की याद में ही समय बिताने का नाम चिन्ता है । कभी उनसे, विनय करना कभी नाराज हो जाना, यही धुनावुनी निरंतर लगी रहे । अब मीरा की चिन्ता देखिये, वह कहती है—

घड़ी एक नहि आवड़े, तुम दरसण बिन मोय ।
तुम हो मेरे प्राण जी, काख जीवण होय ॥
बानन भावे नोदँन आवे, विरह सतावे मोय ।
घायल सी घूमत फिरँ रे, मेरा दरद न जाणै कोय ॥१॥
दिवस तो खाय गमायो रे, राँण गमाई सोय ।
प्राण गँवायो भूरतां रे, नैण गँमाई रोय ॥२॥
जो मैं ऐसा जाणती रे, प्रीत किये दुख होय ।
नगर ढँढोरा फेरती रे, प्रीत करो मत कोय ॥३॥
पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ, ऊबी मारग जोय ।
मीरा के प्रभु कवरे मिलोगे, तुम मिलियाँ सुख होय ॥४॥

इस एक ही पद में विरह की कितनी अवस्थाओं के दर्शन होते हैं; एक घड़ी न भूलने में निरंतर की 'स्मृति' है; तुम मेरे प्राण हो, इसमें 'तन्मयता' है; तुम्हारे बिना जीवन किससे चले, यह 'बोध' है; अन्न नहीं भाता, नौद नहीं आती, इसमें कृशता और 'जागरण' है; घायल सी घूमत फिरूँ, यह 'उन्माद' की अवस्था है, मेरा कोई दरद नहीं जानता, यह

‘व्याधि’ सूचक है। प्राण तड़पते-तड़पते गँवाये, आँखें रोते-रोते गँवाई इसमें ‘मृत्यु’ ‘निर्वेद’ दोनों ही हैं। जो मैं यह जानती कि प्रीति करने से दुख होता है, तो ढिंढोरा पीटती—कोई प्रीति मत करना। इसमें ‘शंका’ ‘निर्वेद’ ‘विषाद’ ‘ग्लानि’ सभी संचारी-भावों का समावेश है। पंथ निहारती हूँ, आपके आनेके लिये रास्ता ब्रुहारती हूँ, इसमें ‘अतुल्य’ ‘आशा’ है। पंथ निहारते-निहारते ऊब गई, इसमें ‘निराशा’ भी है। हे गिरिधर लाल कब मिलोगे ? इसमें निर्वेद, दैन्य, हानि, आशा सभी का समावेश है। तुम्हारे मिलने से सुख होगा, यह सिद्धान्त की आशाजन्य सुख-पूर्ण बात है।

विरह की दूसरी अवस्था है ‘जागरण’। जिन आँखों में प्रियतम का रूप बसा है, वहाँ निद्रा आ ही कैसे सकती है, अतः विरहिणी के लिये सोना अत्यंत ही कठिन हो जाता है, उसकी अधिकांश रातें अपने प्रियतम की स्मृति में जागते २ ही बीतती हैं। चेष्टा करने पर भोःनींद नहीं आती। वह रात्रि भर जाग कर मछली की तरह तड़पती ही रहती है। चातक जैसे घन की ओर टकटकी लगाये देखा ही करता है। उसी तरह वह प्रियतम की बात जोहती ही रहती है। मीरा ने अपनी ‘जागरण’ दशा का स्वयं ही बड़ा सुंदर जीता-जागता अनुभव-पूर्ण वर्णन किया है। वह अपनी एक सखी से कह रही है—

सखी मेरी नींद नसानी हो।

पिया को पंथ निहारते, सब रैन बिहानी हो ॥१॥

सखियन मिल के सीख दई, मन एक न मानी हो।

बिन देखे कल ना परै, जिय ऐसी ठानी हो ॥२॥

अंग छीन व्याकुल भई, मुख पिय पियवानी हो।

अंतर वेदन विरह की, वह पीर न जानी हो ॥३॥

ब्यो चातक धन को रटै, मछली जिम पानी हो ।

मीरा ब्याकुल विरहिनी, सुध बुध बिसरानी हो ॥४॥

सचमुच विरहावस्था में सुध-बुध, नींद, भूख सभी भूल जाती है। विरह की एक 'कृशता' भी दशा है। प्रियतम की याद में क्षीण हो जाना। उसका भी उदाहरण 'अंग छीन' व्याकुल भई में ही समझ लेना चाहिये—

‘उद्वेग’ उस अवस्था को कहते हैं जो मन में एक प्रकार की हलचल पैदा हो जाने से उत्पन्न होती है। अपने ऊपर ग्लानि होती है और विरह की बेहोशी में अपने शरीर की सुधि-बुधि भूल जाती है। विरहिणी मीरा पछताती हैं—

माई म्हाँरी हरि न बूझी बात ।

पिंड में से प्राण पापी, निकस क्यूँ नहिं जात ॥१॥

रैण अंधेरी विरह घेरी, तारा गिणत निस जात ।

ले कटारी कंठ चीरूँ, करूँगी अपघात ॥२॥

पाट न खोल्या मुखा न बोल्या, सॉझ लग परभात ।

अबोलना में अवध बीती, काहे की कुसलात ॥३॥

सुपद में हरि दरस दीन्हौं, मैं न जाण्यो हरि जात ।

नैन म्हाँरा उघड़ि आया, रही मन पछतात ॥४॥

विरह की एक अवस्था का नाम ‘प्रलाप’ है। अपने पराये का, या जड़ चेतन का कुछ भी ध्यान न करके विरह में अंत-संत बकने का नाम प्रलाप है। वाणी से प्रियतम की बातें निकलती रहें। किसी बहाने से, किसी कारण से अपने प्यारे की स्मृति हो आवे और उसमें होनी न होनी सभी तरह की कल्पनायें करना और उन्हें प्रकट करते रहना ही प्रलाप है। अक्सर पागल लोगों को ‘प्रलाप’ करते देखा है, वे बिना प्रसंग बिना सिलसिले के कुछ न कुछ

बकते ही रहते हैं। उनकी बातों में भी बहुधा वे ही बातें होती हैं, जिनके कारण वे पागल हुए हों या जिन्हें भोग चुके हों। विरहिणी को भी प्यारे के सम्बन्ध की कोई बात मिल जाती है तो उसी पर बक-भक्त करने लगती है। पपीहा की वाणी में कहीं 'पीउ पीउ' की सी ध्वनि प्रतीत होती है। बस, उसे ही सुनकर विरहिणी मीरा चौंक पड़ती है। उसे संदेह होता है कि यह दुष्ट पपीहा मेरे ही प्रियतम को पुकार रहा है। बस, इतनी बात ध्यान में आते ही उसका प्रलाप प्रारम्भ हो जाता है—

पपइया रे पिव की वाणी न बोल ।

(जो) सुणि पावेली विरहणीरे, थारी रालेली पाख मरोड़ ॥१॥

चाँच कटाऊँ पपइया रे, ऊपर कालर लूण ।

पिव मेरा मैं पीव की रे, तू पिव कहे स कूण ॥२॥

थाँरा सबद सुहावणा रे, जो पिव मेला आज ।

चाँच मढाऊँ थारी सोवनी रे, तू मेरे सिरताज ॥३॥

प्रतीम कूँ पतिया ! लखूँ, कउवा तू ले जाइ ।

नाइ प्रीतमजीसूँ यूँ कहै रे, थाँरी विरहिणि धान न खाय ॥४॥

मीरा दासी व्याकुली रे, पिव पिव करत विहाइ ।

बेगि मिलो प्रभु अंतरजामी, तुम बिन रह्यो न जाइ ॥५॥

आरम्भ में तो पपीहा पर बड़ा रोष प्रकट किया-धूर्त, पिया चाहें हमसे अलग हों, दूर हों, वे हैं तो हमारे। तू पिया का नाम लेने वाला कौन होता है। खबरदार, यदि फिर नाम लिया तो चाँच कटाकर उसमें काला नमक भरवा दूँगी। कटे पर नमक छिड़कना इसी का नाम है। फिर कुछ दूसरी ही बहुर-चली। 'प्यारे पपीहा ! तेरी बोली तो बड़ी मीठी है, मालूम पड़ता है तेरी बोली शुभ-सूचक शकुन है।

अदि सचमुच आज प्रियतम से भेंट हो जाय तो तेरी चोंच सोने में मढ़ा दूँ और तुझे सम्मान के सहित सिर आँखों पर बिठा लूँ।' इतनी देर बातचीत होने पर पपीहा से अपनापन भी हो गया, इसलिए उससे काम कराने को भी कहती है और साथ ही साथ अपनी विरह-वेदना भी सुनाती है। प्रलाप ही जो ठहरा। अब पपीहा भूलकर उसे कौआ कहने लगी—'हे भैया कौआ ! मैं एक पत्र लिखे देती हूँ, उसे तू प्रियतम को दे देना और कह देना; तेरी विरहिणी अन्न-जल, छोड़े हुए है। फिर अपने हाँ आप आह भरकर कहती है—प्यारे प्रभु ! अब रहा नहीं जाता बेग मिलो, जल्दी करो। यह प्रलाप की सी बातें हैं।

विरह की एक अवस्था 'मोह' भी है। मोह में सब अंग। शिथिल हो जाते हैं। शरीर में शक्ति नहीं रहती। काम करते की इच्छा नहीं। बड़ी बेकली सी हो जाती है। मीरा की इच्छा थी अब मरना तो है ही। विरहिणी के लिये मृत्यु के सिवाय कोई साधन नहीं। अब मरना तो है ही प्रियतम को एक पत्र ही लिखदूँ। किन्तु हाय ! पत्र लिखा कैसे जाय, शरीर तो शक्ति-हीन बन गया है।

पतियाँ मैं कैसे लिखूँ, लिखि ही न जाई ॥

कलम धरत मेरे कर कपत, हिरदो रहो धरिई ॥१॥

बात कहूँ मोहि बात न आवै, नैण रहे, भरिई ॥२॥

किस विधि चरण कमल मैं गहि हौ, सबहि अंग थरिई ॥६॥

मीरा कहे प्रभु गिरधर नागर, सबही दुख विसराई ।

विरह की अंतिम आवस्था 'मृत्यु' बतलाई जाती है। मृत्यु के मानी मृत्युवन् दशा। उसके पश्चात् भी 'भाव' महाभाव 'मोदन' 'मादन, उन्माद, दिव्योन्माद' आदि विरह के अनेक

भाव बतलाये गये हैं। मीरा के पदों में सभी भावों का समावेश देखा जाता है। अब एक पद उद्धृत करके हम इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। उसमें शेष सभी भावों का समावेश समझना चाहिये। मीरा का असली जीवन विरहमय ही है। जिसके जीवनमें विरह है वह या तो जीवेगा ही नहीं, कदाचित् जीवित भी रह जाय तो 'उन्मादवत् नृत्यति लोका वाह्य' संसार से परे होकर वह पागलों की तरह बना रहेगा, वह संसार के काम का फिर नहीं रह सकता। इसीलिये कबीर जी कहते हैं—

विरह भुअंगम तन डख्य, मंत्र न व्यापै कोय ।

नाम वियोगी ना जियै, जियै तो वाडर होय ॥

ऐसा पागलपन किसी भाग्यशाली को ही प्राप्त होता है। वे विरही धन्य हैं, जिन्हें दिन-रात्रि रोते और जागते ही बीतता है, जो प्रियतम की याद में पीले पड़ गये हैं, जिन्हें प्यारे की याद में जीनाभी अच्छा नहीं लगता, फिर विषयभोगों की बात ही क्या? हम लोगों का जीवन भी कोई जीवन है। भूठ सच बोलकर दम्भ-प्रपंच से दिन में पेट भर लिया और रात्रि को टाँग पसार कर सो गये। संसारी शूकरी विष्टा के लिए हम सब कुछ कर सकते हैं। इसीलिये तो बड़े मीठे व्यंग वाणों से कबीर जी हमें सुखी बताकर हमारा उपहास उड़ाते हैं। वे कहते हैं—

सुखिया सब ससार है, खावे अरु सोवे ।

दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोवे ॥

कबीर जी ! क्यों तुम कटे पर नमक छिड़कते हो ? हम तो इन संसारी भोगों की प्राप्ति में ही दुखी हैं, फिर इनमें सुख तो है ही कहाँ ? महाराज ! तुम्हारी तरह रोना और जागना कुछ पुरुषार्थ से थोड़े ही प्राप्त हो सकता है। वह तो मीरा जैसी भाग्यशालिनी देवी को ही तुम्हारी अहैतुकी कृपा से मिलता है।

मीरा के जीवन में आदि से अंत तक विरह ही विरह है । वह बनावटी नहीं, सच्ची विरहिणी थी । सचमुच उसका जावन जागते और रोते हुए ही बीता । बनबारी के साथ गाँठ बाँध कर उसने अग्नि को साक्षी देकर भाँवर फिर ली थी । बस, वह गाँठ ऐसी बँधी कि फिर किसी के खोले खुली नहीं । परम-विरहासक्तिनी मीरा ने रोते रोते स्वयं ही अपनी दशा का वर्णन किया है । इस पद में चिंता, जागरण, उद्वेग, क्लेशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु तक का दिग्दर्शन कराया है । मीरा कहती है—

नाता नाम को मो सँ तनिक न तोड़्यो जाय ।
 पानाँ ज्यूँ पीली पड़ी रे, लोग कहैं पिंड रोग ।
 छाने लाँछन मैं किया रे, राम मिलण के जोग ॥१॥
 बाबल बैद बुलाइया रे, पकड़ दिखाई म्हारीं बाँह ।
 मूरख बैद मरम नहिं जाणै, करक कलेजे माँह ॥२॥
 जात्रो बैद घर आपणे रे, म्हाँरो नाँव न लेय ।
 मै तो दाधी विरह की रे, काहे कूँ औषद देय ॥३॥
 माँस गलि गलि छीजिया रे, करक रहा गल आहि ।
 आँगुलियाँ की मूँ दड़ी रे, म्हाँरे आवण लामी बाँहि ॥४॥
 रहु रहु पापी पपिहरा रे, पिव को नाम न लेय ।
 जे कोइ विरह न साम्हले, तो पिव कारण जिव देय ॥५॥
 खिण मन्दिर खिण आँगण खिण खिण ठाढ़ी होय ।
 घायल ज्यूँ घूमूँ खड़ी, म्हाँरी विथा न बूझै कोय ॥६॥
 काढ़ि कलेजो मै धरूँ रे, कौवा तू ले जाय ।
 ज्याँ देसा म्हाँरो पिव बसै रे, वे देखत तू खाय ॥७॥
 म्हाँरो नातो नाम को रे, और न नातो कोय ।
 मीरा ब्याकुल बिरहिनी रे, पिय दरसण दीज्यो मोय ॥८॥

अंतिम पटाक्षेप

दुःसह प्रेष्ठ विरह तीव्रताप धुता शुभाः ।

ध्यान प्राप्ताच्युताश्लेष निवृत्त्या क्षीण मङ्गला ।

जद्गुण्यमयं देहं सद्यः प्रक्षीण बन्धनाः॥*

प्रेमी न कभी जन्मते हैं न मरते हैं। जिस प्रकार प्रेम अजर, अमर, नित्य और निर्विकार है उसी प्रकार प्रेमी भी उसी के अनुरूप हैं। प्रेमी न कहीं से आते हैं, न जाते हैं। उनका आविर्भाव तिरोभाव होता है। कुछ दिन तक वे इस कोलाहल मय, राग-द्वेषपूर्ण अवनि पर अवतरित होकर और वहाँ दिव्य रसका

● अपने परम प्रियतम श्रीनन्दनन्दन की अत्यन्त तीव्र विरह-वेदना की लपटों से समस्त पाप मय अशुभ कर्म निवृत्त हो गये हैं, तथा ध्यानावस्था में प्राप्त हुए श्री हरि के आलिंगन सुख के परमाह्लाद से जिनके समस्त पुण्य-मय शुभ कर्म नष्ट होगये हैं। बन्धन का कारण जो पाप पुण्य ही है। पाप पुण्य रूपी बन्धनों के दूढ़ जाने पर उन गोपियों ने अपना यह गुणमय शरीर त्याग दिया। वे श्रीकृष्ण के साथ तदाकार हो गईं।

सिंचन करके, फिर अपने सत् स्वरूप में विलीन हो जाते हैं। वे प्रारब्ध वशात्-दुःख-सुख भोगने-नहीं आते। वे तो जीवों पर करुणा करके, अपने स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य करके, अनिर्वचनीय प्रेम का दिग्दर्शन कराने के लिए, तृषित, पिपासित प्रेमियों को प्रेम पीयूष पिलाने के लिये आते हैं और उसकी भांकी दिखाकर छिप जाते हैं। एक पर्दा उठता है, वे जैसेके तैसे ही रंग मंच पर आते हैं, आते ही मधुरातिमधुर अभिनय करने लगते हैं। दूसरा पटाक्षेप होता है, वे शृंगार गृह में चले जाते हैं। अभिनय के वस्त्र उतार देते हैं फिर अपने स्वरूप में हो जाते हैं।

रंग मंच पर आते समय वे दूसरे नहीं थे, वही तन, वही मन, वे ही हाव, भाव, कटाक्ष, वही आकृति पृकृति केवल कुछ वस्त्रों का और अंगराज आदि का ही अंतर था। जहाँ वस्त्र उतारे, शरीरसे अंगराज पोंछा कि फिर वे के वे ही हो गये। उन्हें शरीर बदलना नहीं पड़ता।

साँभर की झील में रहने पर सभी द्रव्य उसी के स्वभाव, उसीके रूपके हो जाते हैं। प्रेम के संसर्ग से यह अनित्य शरीर भी चिन्मय बन जाता है, प्रेमी चाहें तो इसे छोड़कर जाते हैं, चाहें इसे साथ लेकर सशरीर जाते हैं। उन्हे शरीर से मोह नहीं, किन्तु उनके लिये शरीर बन्धन भी नहीं, उनका शरीर स्थूल नहीं रहता, वह सूक्ष्म से सूक्ष्म हो जाता है। इसी लिये बहुत से भक्तों के सम्बन्ध में मिलता है, वे सशरीर ही अन्तर्धान हुए। जगज्जननी माँ वैदेही अपने शरीर सहित ही, अपनी जननी वसुन्धरा के गर्भ में विलीन हो गईं। वे जैसी आई थीं, वैसी चली गईं। ब्रज की गोपांगनाओं के सम्बन्ध में

भी यही मिलता है, वे शरीरों के सहित गोपीचन्दन तालाब में अदृश्य हो गई ।

आधुनिक भक्तों के सम्बन्धमें भी ऐसे प्रमाण मिलते हैं, जो इस देह के सहित अपने निजधाम गये । महात्मा कबीर दास जी के सम्बन्ध में तो यह प्रसिद्ध ही है, कि जब हिन्दु सुसलमान, परस्पर में शव के सम्बन्ध में कलह करने लगे, तब वस्त्र उठाने पर वहाँ मृत शरीर नहीं था, परम सुगंधित कुछ प्रसून थे । यही बात महात्मा दादूदयाल के लिये भी प्रसिद्ध है । महाराष्ट्र के प्रसिद्ध भक्त संत तुकरामजी तो सबके देखते देखते सशरीर बैकुंठ पधारे । जो उन्हें ढोंगी, दंभी और शूद्र कहकर तिरस्कृत करते थे, वे इस दृश्य को देखकर परम विस्मित हुए । महात्मा ज्ञानेश्वर महाराज भी जीवित अवस्था में ही एक गुफा में घुस गये जो अभी तक नहीं निकले । अभी एक दो वर्ष पहिले ही उड़ीसा में कोई एक संत थे, उनके सम्बन्ध में भी दो दलों में कुछ विवाद हुआ और वस्त्र उठाने पर वह मृत शरीर के स्थान में पुष्प मिले । यह अभीकी अनेक पुरुषों की आँखों देखी बात है ।

महाप्रभु चैतन्य देव के सम्बन्ध में तो यह प्रसिद्ध ही है, कि उनका श्री विग्रह श्री जगन्नाथ जी के श्री विग्रह में देखते देखते एकीभूत हो गया । ठीक ऐसी ही घटना श्री मीराबाई के साथ घटित हुई ।

संसार की अनित्यता को देखकर उनका मन ऊब गया था । राणा पृथ्वीराज का दासी-पुत्र बनवारी वहाँ का राजा बन बैठा । मेवाड़ के राज्य पर यवनों का बार बार आक्रमण हुआ । मेढ़ता के राज्य को वीरमदेव से उनके भाई मालदेव ने छीन लिया, इन राज्य की उथल पुथलों से वे लुभित

हो उठीं। साथ रहने से कुछ तो सहानुभूति होती ही है। 'मैं जब तक इन संसारी सम्बन्धियों के साथ में रहूँगी, ये ही भगड़े लगे रहेंगे। इसीलिये अपने सच्चे सगे सम्बन्धी के समीप सदा के लिये चलना चाहिये।' यह निश्चय करके वह निकल पड़ीं और अन्त में श्री रणछोर जी के समीप श्री द्वारिका जी में रहने लगीं।

इधर काल चक्र ने फिर पलटा खाया। महाराणा साँगा जिस रानी को गर्भवती छोड़ गये थे, उनके गर्भ से राणा उदयसिंह उत्पन्न हुए। वल्यकाल में वे इधर उधर भटकते रहें, अन्त में उन्होंने संवत् १५६८ में फिर अपना पैतृकराज्य प्राप्त किया। राज्य पर बैठते ही उन्हें अपने कुल को उज्ज्वल करने वाली देवी मीराबाई की चिन्ता हुई। वे अनुभव करने लगे, उस देवी के अभिशाप से ही हमारे राज्य की ऐसी दुर्दशा हुई। जैसे भी होगा मैं उस देवी को बुलाऊँगा, उसके चरणों में पड़कर अपने भाइयों के अपराधों को क्षमा कराऊँगा। साक्षात् जगन्माता की तरह उनकी पूजा करके अपने बन्धुओं के पापों का प्रायश्चित्त करूँगा। हाय! उस महामणि को किसी ने समझा नहीं, उसे काँच का टुकड़ा समझकर टुकड़ा दिया। उसकी अवहेलना की।

इधर मेढ़ता भी फिर से संवत् १६०० में वीरमदेव जी के अधिकार में आ गया। वीरमदेव जी का कुछ ही काल पश्चात् शरीरांत हो गया। उनके बाद रावजयमल मेढ़ते के सिंहासना-रुढ़ हुए। उन्होंने भी मीराबाई को फिर से मेढ़ता लाने के लिए उपाय किये। पीहर में और ससुराल में दोनों ही जगह घोर विपत्तियाँ आईं और टल गईं। तब तो दोनों ने ही उस प्रेम की पुजारिन मतवाली मीरा के महत्व को समझा। दोनों

के ही आदमी द्वारिका गये और अत्यंत आग्रह से दोनों ने ही, मीरा को पुनः पधारने की प्रार्थना की ।

अब मीरा की अवस्था लगभग ५० वर्ष की हो चुकी थी, उसका हृदय पक चुका था, संसार की ऊँच-नीच सभी रूप देख चुकी थी । संसारी लोगों के सम्बन्धों का भी उसे कटु अनुभव हो चुका था । विपत्तियों ने उसके हृदय को कुंदन बना दिया था, उसमें मोह की गंध भी शेष नहीं थी । परिवार के ममत्व का लेश भी नहीं था, मेवाड़ और मेढ़ते की बातें उसके लिए स्वप्न के समान हो गई थीं । स्मृति पटल पर उनकी बहुत ही अस्पष्ट हलकी-सी रेखायें रह गई थीं, जो कभी प्रकृतिस्थ होने पर—प्यूल कराने पर—धीमी सी दिखाई दे जाती । नहीं तो वह अहर्निश अपने परम प्रियतम, आराध्य-देव, गिरधर गोपाल के ध्यान में ललीन रहती । उन्हें वाह्य-जगत का भान भी न रहता ।

क्रमशः चित्तौड़ तथा मेढ़ता के मनुष्य आये, मीरा से बहुत आग्रह किया, उसने सभी को भाँति २ की बातें बताकर समझा दिया, लौटा दिया । दोनों ही राज्यों के दूत लौट गए । मेढ़ता के महाराज तो मान गये, उन्होंने सोचा—‘अच्छा है, तीर्थवास कर रही है, हमारे यहाँ अब उसका मन भी न लगेगा ।’ उनके यहाँ तो सगी पुत्री की तरह उसका आदर हुआ । जान-बूझकर उसे कोई कष्ट नहीं दिया गया था, इसलिये उन्हें सन्तोष था । किन्तु राणा के यहाँ तो उन्हें भाँति २ की यातनायें दी गई थीं, उसे विष पिलाया गया था, साँप और विच्छुओं से कटवाया गया था, काँटों की सेज पर सुलाया गया था । और इन्हीं यातनाओं से ऊबकर, दुखी होकर वह अपने पितृगृह चली गई थी । राणा उदयसिंह को ये स्मृतियाँ व्यथित कर रही थीं । वे एक बार उस देवी के चरणों में पड़ कर फूट-

फूटकर रोना चाहते थे। वे शिशु की तरह उसकी गोद में बैठकर अपने हृदय की ज्वाला को शान्त करना चाहते थे। वे उसकी चरण-धूलि को अपने मस्तक पर चढ़ाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने फिर दूत भेजे।

स्वयं वे नहीं जा सकते थे। अभी अभी राज्य प्राप्त किया है। राज्य के अनेक शत्रु होते हैं। पहिले रेल नहीं थी, वायुयान नहीं थे। पैदल जाना पड़ता था। इसलिये अबकी उन्होंने अपने कुल पुरोहित को भेजा और हर प्रकार से समझा दिया, कि जैसे भी बने तैसे आप साथ लेकर ही आवें, बिना उन्हें साथ लिये आप लौटें नहीं। राणा का विश्वास था, वह देवी ब्राह्मण के आग्रह को टाल न सकेगी और चाहे जैसे हो, एक बार वह मुझे दर्शन देने अवश्य आ जायगी।

राज्य पुरोहित प्रतिज्ञा करके चले, कि हम अब की अवश्य ही महाराणी जी को साथ लेकर आवेंगे। इस आने जाने में लग भग दो तीन वर्ष लग गये। अब के कुल पुरोहित बहुत से सेवकों के साथ गये। यह लग भग संवत् १६०३-४ के आस पास की बात है उन्होंने जाकर मीराबाई को भाँति भाँति से समझाया, हर प्रकार से मनाया, अनुनय विनय की, किन्तु वह प्रेम की पुजारिन, अपने निश्चय से तनिक भी विचलित न हुई। उसका एक ही उत्तर था—‘मुझे अपने प्यारे से पृथक् मत करो।’

ब्राह्मण ने सोचा—‘समझाने बुझाने से अब यह न मानेगी। इसलिये अपने ब्राह्मण का प्रयोग करो। ब्राह्मणों के पास एक ही अस्त्र है, अनशन करके अपना विरोध प्रगट करना। ब्राह्मण ने यही किया, वे कुशा बिछाकर, श्री रणछोरजी के

मंदिर में बिना अन्न जल ग्रहण किये, एक करवट से लेट गये । उन्होंने प्रतिज्ञा की — ‘जब तक मीरावाई मेवाड़ न चलेंगी, तब तक हम अन्न जल कुछ भी ग्रहण न करेंगे ।’

अब तो मीरावाई के लिये बड़ा संकट उपस्थित हुआ । परिवारवालों की उन्हें परवाह नहीं थी, परिवारजनों का मोह उन्हें अणुमात्र भी विचलित न कर सका, किन्तु ब्राह्मण के दुःख को देखकर उनका मन विचलित हो उठा । उन्हें यह सबसे बड़ी विपत्ति दिखाई देने लगी । श्री द्वारकाधाम से अब बाहिर जाने को जी नहीं करता, ब्राह्मण का दुःख देखा नहीं जाता । साँप छछूँदर की सी गति हो गई, न निगलते ही बनता है न उगलते ही । अन्त में उन्होंने ने भगवान से ही विनय की । बड़े ही करुणा के स्वर में उन्होंने ने गाया—

हरि तुम हरौ जनकी पीर ।

द्रोपदी की लाज राखी । तुम बढायो चीर ॥

भक्त कारण रूप नर हरि, धर्यो आप शरीर ।

हरिनकश्यप मारि लीन्हों, कियो बाहर नीर ॥

दासि मीरा लाल गिरधर, दुख जहाँ जहँ पीर ।

उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ मानों गिरधर लाल ने उनकी पृथ्वी सुनली । उन्होंने प्रस्थान का साज सजाया, सुंदर सी साड़ी ओढ़ी, सोलह शृंगार किये । वेणी गूंथी, माँग में सिन्दूर भरा, भाल पर तिलक लगाया, चिबुक पर बिंदी अंकित की । इस तरह वह सदा सुहागिन, सभी प्रकार से बन ठन के अपने प्रियतम के नित्य विहार के लिये चली । मेवाड़ के सेवकों में प्रसन्नता छा गई । उन्होंने समझा, ब्राह्मण का जादू चल गया, महाराणी चित्तौड़ चलने के लिये तैयार हो गई हैं, किन्तु वे तो

चितचोर के समीप जारही थीं। आधा घूँघट मार कर वह मतवाली लजाती सकुचाती मन में सिहाती तथा अपने आन्तरिक भावों को छिपाती श्री रणछोर जी की ह्योदियों पर पहुँच गई।

ब्राह्मण वहाँ कुशा बिछाकर धरना दिये पड़ा था। बाई ने कहा—‘पण्डितजी ! उठो, हठ अच्छी नहीं होती। कुछ खा पी लो।’

ब्राह्मण ने दृढ़ता के साथ कहा—‘महाराणी ! जब तक आप चलेंगी नहीं, मैं कुछ भी न खाऊँगा पीऊँगा, यहीं पड़ा पड़ा मर जाऊँगा। तुम्हारे पीछे प्राण दे दूँगा मैं राणा साहब से प्रतिज्ञा करके आया हूँ। जीते जी जाकर अब उन्हें क्या मुँह दिखाऊँगा। या तो आपके साथ ही चलूँगा, या यहाँ अपने शरीर का अंत ही कर दूँगा।’

बाई ने कहा—‘अच्छा, मैं दर्शन तो कर आऊँ ?’ बाई दर्शन करने गईं। वे दर्शन अब ऐसे थे कि जिनमें पलकों का भी अब व्यवधान नहीं पड़ने वाला था। अब वे प्रियतम के साथ तदाकार होना चाहती थीं, अब वे इस बाह्यद्वैत को भी मिटाकर एक अद्वितीय बनने की छटपटा रहीं थीं। वे भीतर गईं, जाकर उन्होंने गद्गद् कंठ से, नेत्रों में जल भरकर, रोमांचित शरीर से पुलकित होकर, अधीरता के साथ, दीनता के स्वर में अपने सुललित कंठ से गाया—

साजन सुध ज्यूं जाने त्यूं लीजे हो।

तुम बिन मेरे और न कोई कृपा रावरी कोजे हो।

दिवस न भूख रैन नहीं निदिया यूं तन पल पल छीजे हो।

मीराँ के प्रभु गिरधर नागर मिल बिछुरन नहीं कीजै हो।

बस, साजन तो उत्सुक थे, वे भी अपनी प्राणों से भी प्यारी प्रियतमा को पल भर भी पृथक् करने हो उद्यत न थे ।

पुजारियों ने देखा मीरा का शरीर भगवान के श्री विग्रह में एक दम विलीन हो गया । केवल उनकी चुँनरी का छोर भगवान के मुखमें निकला हुआ रह गया । सर्वत्र हाहाकार मच गया । कोई रोने लगा, कोई पछार खाकर गिरने लगा । किन्तु हंसातो उड़ गया । आकाशमें उसकी गति-विधिका भी पता न चला ।

सेवक उस चुनरी के छोर को ही लेकर चिसौड़ लौटे । राणा ने उसे ही सिर पर चढ़ाया और अपने आँसुओंसे उसे भिगो दिया—

बस यही मीरा के जीवन का अंतिम पटाक्षेप है ।

परिशिष्ट

मीरा की मधुर भाव की उपासना

वन्दे नन्द ब्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।

यासां हरि कथोद्गीतं पुनाति भुवन त्रयम् ॥*

जिस प्रकार प्रेम सबको प्यारा है, उसी प्रकार 'प्रेमी' भी सहृदयों को प्रिय लगता है। मीरा को हमने देखा नहीं, उससे हमारा कोई संसारिक सम्बन्ध नहीं। फिर हम उसकी वाणी को सुनकर क्यों रो उठते हैं, उसका 'नाम' हमारे शरीर में एक प्रकार की विद्युत् क्यों उत्पन्न कर देता है ? इस-लिये कि वह अपने गिरधरलाल से प्यार करती थी, वह प्रेम की उपासिका थी, भगवान की भक्ता थी, श्यामसुन्दर से

* मैं उन महाभाग नंदजी के ब्रज की ब्रजाङ्गनाओं के पाद-पद्मों की पुनीत पराग को पुनः पुनः प्रणाम करता हूँ, जिनका हरि-कथा के सहित गायन तीनों लोकों को पुनीत करता है ।

उसका सम्बन्ध था। वह मधुर भाव से उनकी उपासना करती थी।

अब संक्षेप में यह समझ लेना चाहिये कि यह 'मधुर भाव' क्या चीज है ! पहिले भाव को ही समझिये। किसी वस्तु के देखते ही हमारा उसके प्रति कुछ न कुछ भाव होता है। किसी में सूक्ष्म भाव होता है, किसी में टिकाऊ। जिस वस्तु से हमारी किसी प्रकार की भी जानकारी है, उसके प्रति हमारे कुछ न कुछ भाव अवश्य आवेंगे। बहुत से तो ऐसे सूक्ष्म भाव आते हैं, जो इस प्रकार चले जाते हैं कि हमें स्वयं उनका पता नहीं चलता। बहुत से भाव टिकाऊ होते हैं। कुछ भाव अपने मनके अनुकूल होते हैं, कुछ प्रतिकूल, और कुछ ऐसे होते हैं जो न अनुकूल होते हैं न प्रतिकूल। अपने अनुकूल से राग होता है, प्रतिकूल के प्रति द्वेष होता है, साधारण भावों की उपेक्षा कर दी जाती है। यहाँ पर हमें अनुकूल भावों का ही वर्णन करना है। अपने अनुकूल भावों में 'श्रद्धा' होने लगती है। श्रद्धा से आसक्ति या रति होती है वही रति यदि भगवत् विषय में हो तो उसी का नाम भक्ति हो जाता है। श्रीमद्भागवत् में ऐसा ही क्रम बताया है 'श्रद्धारति-भक्तिरनुक्रमिष्यति'।

भक्ति को शास्त्रकारों ने तीन प्रकार की बताया है। साधना भक्ति, भाव-भक्ति और प्रेमाभक्ति। शास्त्रों में जो भक्ति के साधन बताये हैं, नाम संकीर्तन आदि, उनके द्वारा जो भक्ति उत्पन्न हो वह साधन भक्ति कहाँती है। जो किसी अपने पराये भावों के ही द्वारा स्वतः उत्पन्न हो जाय वह भाव-भक्ति है और उसी भाव में अत्यंत आसक्ति होने पर उसमें अत्यंत समत्व हो जाने पर उसे ही प्रेमाभक्ति कहते हैं।

आसक्ति या रति ही प्रधान वस्तु है। यह आसक्ति कभी तो किसी के द्वारा उत्पन्न होती है, कभी पूर्वसंस्कारों से स्वतः ही होती है। इसके भी विभाव, अनुभाव, सात्विकभाव, व्यभिचारीभाव और स्थाईभाव ये पाँच प्रकार बताये हैं। 'विभाव' तो उसे कहते हैं, जिसके द्वारा हम प्रेम का आस्वादन करते हैं। उसे चाहें आधार कह लीजिये। उसके भी दो भेद हैं—आलम्बन और उद्दीपन। आलम्बन उसे कहते हैं, जिसे लेकर, जिसके द्वारा रस का आस्वादन हो। जैसे रसिक रसखान की सखी अपने आलम्बन का यर्णन कर रही है—

गोरज विराजे भाल लहलही बनमाल,

आगे गैया पाछे ग्वाल गावै मृदुतान री।

तैसी धुन मधुर मधुर बाँसुरी की तैसी,

बंक छितवनि मंद मंद मुसकान री॥

कदम विटप के निकट तटनी के तट,

अटा चढ़ि देखु पीत पट फहरान री।

रस बरसावै तन तपन बुझावै,

नैन प्राननि रिभावै वह आवै रसखान री॥

यह जो सामने रस बरसाता और तन की तपनि को बुझाता हुआ आ रहा है यही रस की खानि है। रस इसी के द्वारा मिलता है यही रस का आलम्बन है। यह तो एक उपलक्षण मात्र है। श्रीकृष्ण तो स्वयं रसरूप हैं, उनके द्वारा रस का आस्वादन करना ऐसे ही है, जैसे मिश्री के द्वारा मधुरता का स्वाद चखना। असल में मिश्री में और मधुरता में अंतर ही क्या है।

उद्दीपन उसे कहते हैं, जिसके द्वारा भावों का उद्दीपन हो। या यों कहो जो हमें प्यारे की स्मृति दिला दे। जैसे बंशी बजी

बस, भाव उद्दीपित हो उठा। हृदय में प्रेम हिलोरें मारने लगा। मन मयूर नृत्य करने लगा। सुनते ही नन्दनन्दन की स्मृति हो उठी और प्रेम की बेहोशी आ गई। उसी बेहोशी में पड़ी रस का आस्वादन कर रही है। लोग समझते हैं, इसे भूत-प्रेत की बाधा है, किन्तु उसे काले भूत की स्मृति ने विस्मृत बना रखा है। रसखानि की सखी के ही मुख से सुनिये।

आज अली इक गोपलली भई बावरी नेकु न अँग संहारै ।
खात अन्हार न देवनि पूजत, सासु सयानी सयाने पुकारै ॥
यों रसखानि धिरथो सिंगरो ब्रज कौन को कौन उपाय विचारै ।
कोउ न कान्हर के करते वह वैरनि बाँसुरिया गहि जारै ॥

यह तो विभाव हुआ, अब अनुभाव की सुनिये। चित्त में जब प्रेम की हिलोरें उठती हैं तो अपने को सम्हाल नहीं सकते, ऐसी स्थिति में उत्पन्न होने वाले शारीरिक चिन्ह अनुभाव के अन्तर्गत हैं। चित्त के भाव नाना प्रकार की चेष्टाओं द्वारा बाहिर प्रकट हो जाते हैं। इसके बहुत भेद हैं। कभी नाच उठना, कभी पृथ्वी पर लोट जाना, गाना, चिल्लाना, शरीर विचित्र तरह से ऐंठना, हुंकार, जम्हाई, मुँह से फेन गिरना, जोर-जोर से हँसना और भी भाँति-भाँति की अंट-संट क्रियायें करना, सारांश प्रेम में पागल हो जाना। दूसरे लोग तो समझते हैं, त्रिदोष के कारण इसकी वायु कुपित हो गई है, किन्तु जो प्रेम के पारखी हैं, जो भुक्त-भोगी हैं, जिन्हें यह रोग हो चुका है, वे भाँप जाते हैं कि यह रोग असाध्य है, 'जानी हम जानी यह प्रेम की निशानी है।' रसखान की सखियों के ही द्वारा सुन लो इसकी यथार्थता की कहानी।

किसी नई आई को देखा, उसे तो मिरगी-सी आ गई,
आँखें पथरा गई, मुँह से झाग बह रहे हैं, पगली की तरह,

कभी हँसती है कभी रोती है, कभी छटपटाती है, कभी ह-ह करती है। सास-ननद सब घबड़ा गईं। जंतर मंतर जादू-टौना होने लगे। जो भुक्त-भोगनी थीं उन्होंने देखा, हँसी और रोग का मन ही मन निदान कर लिया—

अब हीं गई खिरक गाइके दुहाइबे को,

बावरी हूँ आई डारि दोहनी यों पाँन की।

कोऊ कहै छुरी, कोऊ भौन परी डरी, कोऊ,

कोऊ कहै मेरी गति हरी अखियानि की ॥

सास ब्रत ठानै, नंद बोलत सयाने घाइ,

दौरि दौरि जानै, माने खोरि देवतानि की।

सखी सब हँसै मुरझानि पहिचान कहूँ,

देखी मुसकानि वा अहीर रसखानि की ॥

सात्विक भाव वे कहलाते हैं जो अपने प्रियतम के सम्बन्ध से उनकी स्मृति में, उनके दर्शनसे, स्पर्शसे, या वियोग-जन्यबेकली से शरीर में, सतोगुण-जनित, स्वयं ही प्रस्फुटित हो उठें। इसके भी स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु प्रलय आदि अनेक भेद हैं। हम पाठकों को इनके विस्तार में लेजाना नहीं चाहते। वे यही समझें कि प्रेम में शरीर बह निकले, बिना प्रयत्न पसीना, आँसू निकल उठे इसी तरह की अनेक क्रियायें हो जायँ, जैसे श्यामसुंदर के सामने देखते-देखते श्री जी बेहोश होगई, शरीर पसीने-पसीने हो उठा, सम्मुख रहते हुए भी वे वियोग का अनुभव करने लगीं। श्री विदेहनन्दिनी राघवेन्द्र को जयमाला पहिना रही हैं, उनके मुकट से कर स्पर्श हो गया। बस, सम्पूर्ण शरीर स्तम्भित हो उठा।

राजसूय यज्ञमें जब अग्रपूजा के लिये भगवान् वासुदेव को ही चुना गया तब युधिष्ठिर जी ने उनकी विधिवत् सपरिवार

पूजा की अर्घ्य, पाद्य, आचमनीय देकर और नाना प्रकारके वस्त्रभूषण प्रदान करते करते उनका गला भर आया। आँखोंमें आँसू आगये। सामने बैठे हुए भगवान को भी वे न देख सके। यही सात्विक भाव है—

वासोभिः पीत कौशेयै भूषणैश्च महाधनैः ।

अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशक्तु समवेक्षितुम् ॥

(श्री भाग; १० स्क० ७४ अं० २२ श्लो०)

अब एक व्यभिचारी भाव है, उसे संचारीभाव भी कहते हैं। वह आगे जो स्थाई भाव है उसका संचार करता है। प्रेम की उपलब्धि में अन्तराय होनेसे मनमें जो विषाद, दीनता, ग्लानि आदि होती है, उसी भावको व्यभिचारी कहा जाता है। इसके भी निर्वेद, विषाद, दैन्य, ग्लानि, श्रम, मद, गर्व, शंका, आस, आवेश, उन्माद, अपस्मार, व्याधि मोह, मृत्ति, आलस्य आदि अनेक भेद हैं। ये भाव हृदय को द्रवीभूत बनाते हैं। हाय ! मैंने कुछ भी नहीं किया, मुझे प्यारे कैसे मिलेंगे।

मो सम कौन कुटिल खल कामो ।

पापी कौन बड़ो है मोते सब पतितन में नामी । आदि

दिवस तो खाय गमाइया रे, रेण गमाई सोय ।

प्राण गमाया झूरता रे, नैण गँवाया रोय ॥

अब पंचमभाव है। यहीं प्रेम का अंतिम भाव है इसी के लिए सब प्रयत्न है। अनुकूल-प्रतिकूल सभी प्रकार के भावों को बश में करके जो भाव दृढ़स्थाई हो जाय उसी को स्थाई-भाव कहते हैं। महाप्रभु चैतन्य देव ने कहा है—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा—मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।

यथा तथा वा विदधातु लम्पटो मत् प्राणनाथस्तु स एव नापरः ।

इस भाव में किसी की परवाह नहीं रहती। सम्राट की तरह सभी भावों पर विजय प्राप्त करके यह भाव अपना अधिकार जमा लेता है। रसखान की सखी के मुख से सुनिये :—

मोर पखा मुरली बनमाल लगी हिय में हियरा उमग्यो री।
ता दिन ते' निज बैरिन के कांह कौन न बोल कुबोल सख्यो री।
अब तो रसखानि सों नेह लग्यो, कोऊ कहो कोऊ लाख कहो री
और ते रंग रहो न रहो, एक रंग रंगीले ने रंग रहो री।

ये तो भाव की बात हुई। अब उसी रति पर आ जाइये। हमारी किसी पर श्रद्धा है, उससे प्रेम भी हो यह आवश्यक नहीं। श्रद्धा सर्वदा गुण के अधीन होती है। वह गुण न होने से हमारी श्रद्धा भी हट जाती है या कम हो जाती है। किसी के लेख, कविता, व्याख्यान सुन पढ़कर हम उस पर श्रद्धा करने लगते हैं। जब उससे भेंट होती है और हम सम-भक्ते हैं, यह प्रेमी नहीं केवल कलाकार है तो हमारी उससे श्रद्धा हट जाती है। मेरे लेख तथा ग्रंथ पढ़कर कोई-कोई लोग मुझे ही दूर से बड़ा भक्तप्रेमी समझ लेते हैं। भेंट होने पर जब उन्हें पता चलता है कि मेरे हृदय में भक्ति की गंध भी नहीं तो बहुत से उदासीन हो जाते हैं। कोई-कोई घृणा भी करने लगते हैं। कभी-कभी श्रद्धा बढ़कर रति का रूप धारण कर लेती है। रति बिना सम्बन्ध के नहीं होती। हमारे पास सैकड़ों हजारों मनुष्य आते हैं, देखकर चले जाते हैं। उनसे कोई स्थाई सम्बन्ध न होने से न हमारा उनसे स्नेह बढ़ता है न उनका। जब किसी से किसी प्रकार का सम्बन्ध जुड़ जाय तो उसके प्रति आसक्ति हो जाती है।

संसार के सभी सम्बन्ध चार सम्बंधों के ही अंतर्गत हैं। स्वामी-सेवक सम्बंध, मैत्री-सम्बंध, संतान और पिता का सम्बंध और पति-पत्नी सम्बंध। एक पाँचवाँ भी सम्बंध है जो सर्व-व्यापी निर्गुण ब्रह्म से किया जाता है, उसे परमात्म-सम्बंध कह लीजिये।

ये सम्बंध जब भगवान के साथ हो जाते हैं तो उसे भगवत् रति या भगवत् भक्ति कहते हैं। इनको 'रस' भी कहते हैं, क्योंकि रसरूप वे रसार्णव श्रीहरि ही हैं।

पहिले दास्य भक्ति को ही लें। भगवान हमारे स्वामी हैं, हम उनके दास हैं। दास मानकर उनकी सेवा, पूजा, अर्चा करें यही दास्यभक्ति है। गोस्वामी तुलसीदास जी की ऐसी ही भक्ति है। 'विनय-पत्रिका' से बढ़कर दास्य का रस और कहीं स्यात् ही मिले।

स्वस्थ-भक्ति में हम भगवान को अपना सखा मित्र समझते हैं। मित्र की तरह उनसे हार्दिक स्नेह करते हैं। उलटी-सीधी भी सुना देते हैं, सखा ही जो ठहरे। भीतर अगाध प्रेम है, फिर भी कभी कभी उनसे लड़ाई मगड़ा भी हो जाता है। इसका रसास्वाद हिन्दी-साहित्य-जगत के सूर्य श्रीसूरदासजी की कविता में मिलेगा। स्थल-संकोच हमें एक भी पद उद्धृत न करने के लिये विवश करता है।

वात्सल्य-भक्ति में भगवान को अपना पुत्र मानकर उनकी हर प्रकार से देख-रेख, टहल-चाकरी करनी पड़ती है। भगवान भी ऐसे भले मानुष हैं, कि वे उन भक्तों के लिये एक दम अबोध शिशु बन जाते हैं। यही तो उनकी भगवत्ता है 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' श्रीमद्बल्लभ

सम्प्रदाय की पुष्टिमार्गीय में, प्रकट रूप से, यही उपासना है। वहाँ भगवान के श्रीविग्रह बहुत ही छोटे २ होते हैं और बालक की भाँति ही उन्हें लाड़ लड़ाया जाता है। उसी तरह की सेवा पूजा है।

भगवान को निर्गुण ब्रह्म मानकर शांत भाव से जो उपासना की जाती है उसे शांत रस या शांत रति कहते हैं। वैरागवान ब्रह्म ज्ञानी विरक्त भगवान की इसी भाव से उपासना करते हैं। शुक सनकादि इसी भाव में परिनिष्ठित थे। शुकदेवजी ने स्वयं कहा है—

परि निष्ठितोऽमिनैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया ।

गृहीत चेता राजर्षे आख्यानमितधीतवान् ॥

अब मधुर रस की बात सुनिये। भगवान हमारे पति हैं और हम उनकी दासी हैं, किकरी हैं, सखी हैं, सहेली हैं, गोपी हैं, कान्ता हैं। इस भाव को लेकर और श्रीभगवान को ही प्रियतम, स्वामी मानकर उनके साथ वैसा ही सम्बन्ध रखना यह मधुर उपासना या कान्ता भाव की उपासना है। वैसे तो सभी संप्रदाय के वैष्णवों में इसे किसी न किसी भाँति माना गया है, किन्तु ब्रज में गौड़ीय सम्प्रदाय, श्री निम्बार्क सम्प्रदाय और श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदाय इन तीनों में तो बस, यही उपासना है। गौड़ीय सम्प्रदाय में इस विषय के संस्कृत भाषा में अनेक ग्रंथ हैं। इसका सूत्र-पात तो ब्रज में ही हुआ है—सूत्र-पात से मेरा अभिप्राय इस युग में प्रचार से है। वह उन बंगालियों द्वारा ही हुआ है, जो ब्रज में वास करते थे। इस विषय के श्री रूपसनातन, जीव आदि गोस्वामियों ने बहुत ग्रंथ लिखे हैं। निम्बार्कीय सम्प्रदाय के रसिक महा-

नुभावों ने इस विषय की वाणियाँ ब्रजभाषा में लिखी हैं। इसी तरह श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदाय के रसिकों ने भी ब्रजभाषा में बड़े-बड़े ग्रंथ बनाये हैं; उनमें हजारों नहीं लाखों पद हैं। वे सब अप्रकाशित हैं। इन रसिक महानुभवों की शपथपूर्वक आज्ञा है कि यह रस सर्व-साधारण में प्रकाशित न किया जाय। बात ठीक भी है। सब लोग इस रस के अधिकारी भी नहीं। यह तो बहुत बड़ा प्रसङ्ग है; अवसर मिलने पर इसकी कभी स्वतंत्र चर्चा करेंगे।

यहाँ कहने का मेरा इतना ही अभिप्राय है कि मीरा मधुर भाव की उपासिका थी। वह श्यामसुन्दर को अपना पति मानती थी। उसी भाव से उसने उन्हें प्राप्त किया और उसी सम्बन्ध को लेकर उनके साथ रसास्वादन किया। यह विषय तो बड़ा गूढ़ है। फिर मनुष्य तो इसे समझ ही नहीं सकता, समझने की चीज भी नहीं, यह तो अनुभव की चीज है, गूँगे का गुड़ है। फिर भी प्रसङ्ग को समझने के लिये मधुर-भाव की सामान्य बातें जान लेना आवश्यक है।

पीछे हम संक्षेपमें भावों का वर्णन कर चुके हैं और यह भी बता चुके हैं कि दास्य, सख्य, वात्सल्य, शांत और मधुर ये पाँच प्रकार की भक्ति या रति है। इन सब में आलंबन, रति उद्दीपन, अनुभव, सात्विक भाव, व्यभिचारी, स्थाई ये सब होते हैं।

मधुर भाव की अभिव्यक्ति सम्बन्ध से भी होती है और स्वतः स्वाभाविकी भी होती है। अपने आपही प्रकट होती है। मीरा में यह स्वाभाविक थी। वैसे माता ने बहाने से सम्बन्ध कराया था। किन्तु वह एक उपलक्ष्य बन गया। यथार्थ में तो

वह जन्म जन्मान्तर में श्रीकृष्ण की प्रेयसी रही है। जैसा कि उसने अपने पदों में बार २ दुहराया है—

मीरा दासी जनम जनम की पड़ी तुम्हारे पाय ।

मेरी उनकी प्रीति पुरानी उन बिनु पल न रहाऊँ ।

मीरा के प्रभु कबरे मिलोगे जनम जनम के साथी ।

इस मधुर रस के आलम्बन श्रीकृष्ण हैं या उनकी जो प्रियतमा हैं। क्योंकि यह रस उनके साथ मिल कर ही आस्वादन किया जाता है।

इसीलिये मीरा ने गाया है—

मेरे तो गिरधर गुपाल दूसरा न कोई ।

जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ।

आलम्बन के अन्तर है रति। इस मधुर भाव में साधक सर्वस्व त्याग कर एक मात्र उनके ही अधीन हो जाता है। किसी की परवाह नहीं करता। मोरा के पदों में सर्वोत्कृष्ट रति के कई पद हैं, जैसे—

मैं तो गिरधर के रँगराती ।

पीहर बसूँ न बसूँ सास घर सतगुरु संग रहाती ।

× × ×

मैं तो गिरधर के घर जाऊँ ।

जो पहिनावै सोई पहिनुँ जो दे सोई खाऊँ ।

जित बैठावे तित ही बैठूँ बेचे तो बिक जाऊँ ॥

× × ×

इस मधुर रस में भावों को उद्दीप्त करने वाले उद्दीपन मुरली, वृन्दावन आदि। मुरली की धुनि सुनते ही मन वश में नहीं रहता। इसीलिये मीरा ने गाया है—

भई हौं बावरी सुनिके बाँसुरी ।

खवन सुनत मोरी सुधि बुधि बिसरी ।

लगी रहत तामें मन की गाँसुरी ॥

नैम घरम कौन कीनी मुरलिया कौन तुम्हारे पासरी ।

मीरा के प्रभु वश कर लीने सदा सुरन ताननि की फाँसुरी ॥

मधुर रस में प्यारे की जो चेष्टायें हैं वे ही अनुभव कहलाती हैं । मीरा ने गाया है—

जब ते मोह नंदनंदन दृष्टि परयो री माई ।

तब से परलोक लोक कछु ना सुहाई ॥

सात्विक भाव तो हम पीछे बता ही आये हैं, शरीर का पुलकित हो जाना, प्रेम से नेत्रों में जल भर आना, वाणी का गद्गद् हो जाना, देह में कँपकँपी होना ये ही मधुर रस में सात्विक भाव हैं—मीरा ने पदों में ऐसे भाव व्यक्त किये हैं—

स्थाई भाव इस मधुर रतिमें माधुर्य ही है । मीरा के पदोंमें यह तो कूट कूट कर भरा है—

प्रेमनी प्रेमनी रे, मन लागी कटारी प्रेमनी रे ।

जख जमुना माँ भरवा गया ताँ, हती गागर माथे हेमनी रे ।

कांचे ते तांतने हरिजीये बांधि, जेमने खँचे तेमनी रे ।

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, साँवलो सुरत शुभ एमनी रे

इस स्थाई भाव के विप्लव और संभोग दो भेद बताये हैं । संभोगरति के बढ़ाने के पूर्व का ही नाम विप्लव है । इससे संभोग का रस-वार्धक्य होता है । जैसे किसी छोटे शिशु को हम गोदीमें लेकर प्यार करना चाहते हैं । वह भागता है, चंचलता करता है, समीप आकर भाग जाता है । इससे

उत्कंठा बढ़ती है और प्रेम-रसास्वाद में वृद्धि होती है। इसके पूर्वरंग, मान, पूवास आदि अनेक भेद हैं। मीरा के पदोंमें इसी भाव को अधिकता से दर्शाया है।

रमैया बिनु नींद न आवै ।

नीद न आवै विरह सतावे, प्रेम की आँच डुलावे ॥

बिन पिया जोत मन्दिर अंधियारो, दीपक दाय न आवे ।

पिया बिना मेरी सेज अलूणी, जागत रैन बिहावे ।

दादुर मोर परिहरा बोले, कोयल शब्द सुणावे ।

पिया कबरे घर आवे । रमैया ।

धुमड़ घटा ऊलर होय आई, दामिन दमकि डरावै ।

नैन भर लावे ॥ रमैया०—

कहा कलँ कित जाऊँ मोरी सजनी, वौदन कुण बुलावै ।

विरह नाग ने मेरी काया डसी है, लहर लहर जिजावे ।

गड़ी घस लावे ॥ रमैया०

को है सखा सनेही सजनी, पिया कू आन मिलावे ।

मीरा के प्रभु कबरे मिलेंगे, मन मोहन मोहि भावे ॥

कबै हँसकर बतलावे । रमैया०

इस मधुर रस में अंतिम रसास्वाद है—सम्भोग ।

मीरा के पदों में जगह-जगह इसकी अभिव्यक्ति है और वह इतने कौशल से वर्णन किया गया है कि अत्यंत स्वाभाविक हो गया है। इस विषय में महाकवि जयदेव ने जो वर्णन किया है वह दर्शनीय है तथा ब्रज के रसिकों ने इसी विषय के लाखों पद लिखे हैं—हाँ तो कविता-काभिणी-कांत जयदेव की भी बानगी देखिये—

दोभ्यां सयमितः पयोधर भरेणापीडितः पाण्डुरजै—
 राविद्धो दशनैः क्षताधर पुटः श्रोणी तटेनाहतः ।
 हस्तेना नमितः कचेऽधर मधु स्यन्देन सम्मोहितः ।
 कान्तः कामपि तृप्तमापत दहो कामस्य वामागतिः ।

बस, जी; मधुर रस की यही पराकाष्ठा है । इसके आगे
 कहने सुनने की बात कुछ भी नहीं है । मीरा ने भाव में नहीं,
 प्रत्यक्ष अपने स्वामिसुंदर गिरिधर नागर के साथ इस साराति-
 सार रस का आस्वादन किया था ।